



हमारी वैदेशिक नीति

संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के मूल आधार और उद्देश्यों की रूपरेखा, जिसे अमेरिका के वैदेशिक विभाग द्वारा वहां की जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है ।

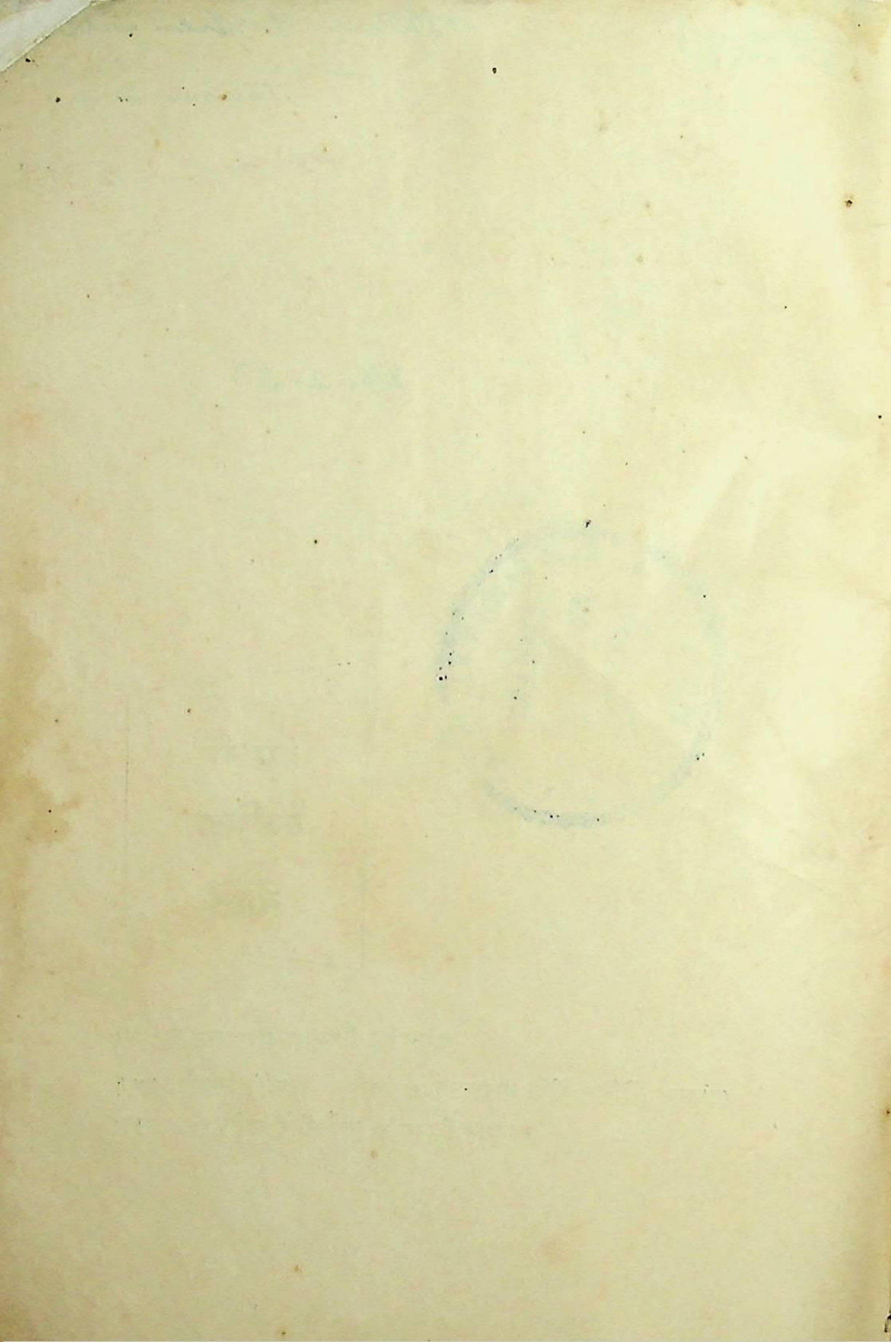


हमारी वैदेशिक नीति

पर-राष्ट्र-विभाग प्रकाशन ३६७२

साधारण वैदेशिक नीति माला २६ * प्रकाशन (हिन्दी) जुलाई १६५१

प्रकाशन विभाग * सार्वजनिक कारोबार का दफ्तर

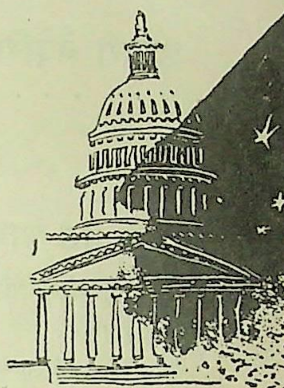


सूची

प्राक्कथन



मेरे अमेरिकन देशबन्धुओं के प्रति :



ऐसे समय में जबकि नागरिक कर्तव्यों का एक भारी-सा बोझ अमेरिका के हज़ारों नवयुवकों के कन्धों पर आ पड़ा है, हम लोगों का भी कुछ कर्तव्य हो जाता है, जिसके पालन करने की सामर्थ्य हम सब में है और जिसे पूरा कर डालने का भार हमें स्वयं स्वेच्छा-पूर्वक वहन कर लेना चाहिए; और वह कर्तव्य यह है कि हम उन सारी समस्याओं से भली प्रकार परिचित हो जायं जो हमारे देश के सामने हैं, उनसे सम्बन्धित तथ्यों की जांच करें तथा उनके विवादास्पद पहलुओं को समझकर अपनी निजी राय क़ायम करें और तब किसी निर्णय पर पहुँचें।

यह कार्य सुगम नहीं है, परन्तु यदि हम अमेरिका-निवासी समष्टि रूप से शान्ति, स्वतन्त्रता और न्याय को चिरस्थायी रूप प्रदान करने का पक्ष प्रबल बनाने के लिए अपना पूरा-पूरा प्रभाव डालना चाहें तो यह नितान्त आवश्यक हो जाता है।

अमेरिका के उद्देश्य और नीति का यह संक्षिप्त पर्यवेक्षण मेरे सुझाव पर तैयार किया गया है, क्योंकि अन्य देशों की सरकारों और वहां के नागरिकों के प्रति हमारे सम्बन्ध कैसे हैं, इस पर सरलतापूर्वक तथा स्पष्ट शब्दों में अपने विचार प्रकट करने से, जहाँ तक मैं समझता हूँ, लाभ ही होता है।

निःसंदेह इन थोड़े से पृष्ठों में अमेरिका के वैदेशिक सम्बन्धों की पूरी कहानी कहना सम्भव नहीं है; परन्तु यदि उस कहानी के इस थोड़े से भाग से, जिसका उल्लेख यहां किया गया है, आप लोगों की जानकारी में थोड़ी भी वृद्धि होती है, यदि उस जानकारी की प्राप्ति के अन्य साधनों का मार्ग प्रशस्त हो जाता है और यदि उससे आपको सही एवम् ठोस निर्णय पर पहुँ-चने में सहायता मिलती है, तो इसके प्रकाशन का उद्देश्य सफल हो जाता है।

—हैरी ट्रुमैन

१

हमारी वैदेशिक नीति

. . . .

उसके मूल आधार

अब 'घरेलू' और 'वैदेशिक' मामलों में कोई वास्तविक अन्तर नहीं रह गया है।

वास्तव में जो कुछ भी हम करते हैं, जिस तरीके से हम जनता पर कर लगाते हैं और अपनी राष्ट्रीय आय खर्च करते हैं, जिस तरीके से हम अपना सार्वजनिक और निजी कारोबार चलाते हैं, जिस तरीके से हम अपने आपस के तथा दूसरे राष्ट्रों के साथ अपने मतभेद मिटाते हैं, अपने समाचारपत्रों में जो कुछ लिखते हैं, अपने रेडियो द्वारा जो कुछ प्रसारित करते हैं तथा सार्वजनिक भाषणों में कहते हैं और एक दूसरे के तथा अन्य लोगों के प्रति हमारा जो रुख है—ये सब बातें हमारी सुरक्षा तथा देश की सम्पन्नता पर ही नहीं, बल्कि देश से बाहर हमारा जो प्रभाव है, उस पर भी असर डालती हैं।

ये सारी-की-सारी बातें संयुक्त राज्य अमेरिका के चरित्रबल तथा नैतिकता के निर्माण के साथ-ही-साथ उसकी प्रतिष्ठा को भी उत्कर्ष पर पहुँचाती हैं। ये ही वे बातें हैं, जिन पर इस देश की वैदेशिक नीति आधारित है।

पिछले इन १७५ वर्षों में जब से हम एक राष्ट्र के रूप में संगठित हुए हैं, हमारे राष्ट्रीय हितों में कई प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, लेकिन उनका साधारण रूप जैसे-का-तैसा ही बना रहा है। हमारे इतिहास में निरन्तर चले आने वाले हमारे कुछ शाश्वत सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

"हम एक स्वतन्त्र राष्ट्र हैं, और हम अपनी आजादी बनाए रखना चाहते हैं।

"हम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सर्वोच्च स्थान देते हैं और अपनी इस स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए कटिबद्ध हैं ।

"हम लोग शांतिप्रिय हैं और युद्ध तथा युद्ध के भय से सदा के लिए मुक्त होना चाहते हैं ।

"हमारा जीवन-स्तर अपेक्षाकृत ऊँचा है और हम उस स्तर को और भी अधिक ऊँचा उठाना चाहते हैं जिससे कि अन्ततोगत्वा अमेरिका के प्रत्येक व्यक्ति को अच्छे ढंग से और सुरक्षित रूप से अपनी आजीविका उपार्जन करने का अवसर प्राप्त हो सके ।

"हम मित्र-भाव से रहने वाले लोग हैं । हमारा कोई भी परम्परागत 'शत्रु' नहीं है और हम सभी लोगों के साथ मैत्री-भाव रखना चाहते हैं ।"

ये वे बातें हैं जिन पर अमेरिका-निवासियों के एकमत होने की प्रबल सम्भावना है, चाहे अन्य मामलों में उनकी विचार-धाराएँ एक-दूसरे से कितनी ही भिन्न क्यों न हों ।

जनता के प्रतिनिधि की हैसियत से सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इन राष्ट्रीय हितों की उन्नति करे ।

जन-समुदाय का प्रतिनिधित्व करने के कारण हमारी संघ सरकार को लगातार विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है और राज्य के 'प्रत्येक प्राणी' का प्रतिनिधित्व करने के कारण सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह विभिन्न दलों और वर्गों के वैयक्तिक हितों के साथ राष्ट्रीय हितों में सामञ्जस्य स्थापित करने की भरसक चेष्टा करे ।

बिना ध्वंसात्मक शक्तियों का मुकाबला किये राष्ट्रीय हितों की वृद्धि करने का अवसर हमारे राष्ट्र को कभी मिला हो, ऐसा हमारे इतिहास से पता नहीं चलता । इन शक्तियों में से कुछ तो हमारे ही देश में मौजूद हैं । इनका विकास उन दल-विशेषों से हुआ है जो राष्ट्रीय हितों के विरोधी हैं । कतिपय अमेरिका-निवासियों का जीवनादर्श उन आधारभूत सिद्धान्तों के प्रत्यक्ष संघर्ष में आ जाता है जिन पर हमारे प्रजातंत्र की रचना हुई थी । कुछ

लोग हम में ऐसे भी हैं जो दूसरों की सम्पन्नता से अथवा स्वतंत्रता से अनुचित लाभ उठाने में प्रयत्नशील हैं।

कुछ विरोधी शक्तियां हमारे देश से बाहर हैं। इनकी उत्पत्ति उन राष्ट्रों से अथवा शासक-समुदाय से हुई है, जो निरन्तर अन्य राष्ट्रों के साथ आर्थिक अथवा सैनिक संघर्ष में संलग्न रहे हैं, अथवा उन पर प्रभुत्व स्थापित करना जिनका ध्येय रहा है।

इस प्रकार की शक्तियों से लोहा लेने में अमेरिका-निवासियों को अपने कुछ राष्ट्रीय हितों को कुछ समय के लिए नज़र-अन्दाज़ कर देना पड़ा है, ताकि वे अन्य स्वत्वों को समुन्नत कर सकें अथवा सुरक्षित रख सकें। मिसाल के तौर पर गत कुछ वर्षों में हम तीन बार अपने शान्तिमय जीवन को अस्त-व्यस्त करने पर मजबूर हुए हैं, और स्वाधीनता तथा स्वतंत्रता की रक्षा के लिए, जिन्हें हम उससे भी कहीं अधिक महत्व देते हैं, हमें हथियार उठाने पर विवश होना पड़ा है। जब कभी हमें कहीं से आक्रमण का भय उपस्थित हुआ है, हमारी शान्ति-रक्षा की प्रबल भावना हमें विवश करती रही है कि हम अपने प्रतिदिन उत्कर्ष पर जाते हुए जीवन-स्तर-सम्बन्धी हितचिन्तन को तिलांजलि देकर संसार के स्वतंत्र राष्ट्रों की सैनिक एवं आर्थिक सुरक्षा पंक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए अपने आप पर अधिक-से-अधिक कर लगाएँ।

इस प्रकार नीति का निर्धारण तो (परिस्थितियों के अनुरूप) कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय का विषय है। बहुधा इस प्रकार के निर्णय पर पहुँचना कि दोनों में से कम बुराई किस में है, कठिन होने के साथ-ही-साथ अरुचिकर भी होता है।

ऐसी दशा में कभी-कभी ऐसी नीतियों का निर्धारित होना भी सम्भव हो जाता है जो उपयोगी एवम् सृजनात्मक हों, क्योंकि या तो उनसे हमें पुरानी और कठिन समस्याओं के सहसा नये तरीके से समाधान करने में सहायता मिलती है या अपेक्षित परिस्थिति के उत्पन्न होने से पूर्व ही उसका आभास मिल जाता है और सिर उठाने से पूर्व ही उनके द्वारा कठिनाइयों का दमन करना संभव हो जाता है।

हमारा आधुनिक इतिहास उधार पट्टा, संयुक्त राष्ट्र संघ, मार्शल योजना और चतुर्थ-लक्ष्य-योजना के रूप में इस प्रकार की नीतियों के कितने ही उदाहरण उपस्थित करता है।

राजनीति को सम्भावना की कला की संज्ञा दी गई है; और उस सम्भावना के क्षेत्र को व्यापक बनाना राजनीतिज्ञता की कला है।

यह नीति क्या है

यद्यपि हमारे बुनियादी हित वर्षों से ज्यों-के-त्यों रहते आए हैं, फिर भी उन हितों को व्यक्त करने और प्रोत्साहन देने वाली नीतियों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी और यहाँ तक कि कभी-कभी प्रति वर्ष रद्दोबदल होती रहती है। देश के भीतर और बाहर पैदा होने वाली नई परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उन परिस्थितियों में परिवर्तन होते रहना सर्वथा स्वाभाविक है।

१९३३ में १ करोड़ २० लाख से भी अधिक अमेरिका-निवासी बेकार थे। हमारा 'सर्वोपरि राष्ट्रीय हित' इसमें ही था कि हम अपनी बुरी तरह से क्षत-विक्षत आर्थिक व्यवस्था में सुधार करें। हमारी यह महान् आवश्यकता, उस समय जो नीति निर्धारित की गई थी, उसमें प्रतिभासित



है। उस समय अन्य राष्ट्रीय हितों को कुछ समय के लिए गौण स्थान दे दिया गया था।

१९४५ में १ करोड़ २० लाख से भी ऊपर अमेरिका-निवासी सशस्त्र सेनाओं में काम कर रहे थे। उस काल में निर्धारित हमारी नीति हमारे तत्कालीन सर्वोपरि राष्ट्रीय हित की प्रतीक थी, और वह राष्ट्रीय हित सबसे पहले था धुरी राष्ट्रों की पराजय और दूसरा, युद्धोत्तर-काल में संसार की शांति के लिए संगठन। अन्य राष्ट्रीय हितों का महत्व उस समय विलीन-सा हो गया था।

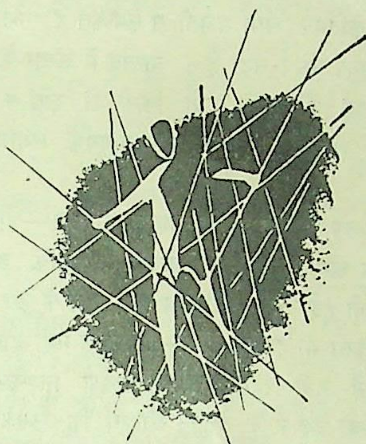
१९५०–५१ में हम जिन परिस्थितियों में से होकर गुजर रहे हैं वे सर्वथा भिन्न हैं। एक तानाशाही राष्ट्र अपनी शक्ति का प्रसार दूर-दूर तक करने में संलग्न हो रहा है तथा धमकियों और ध्वंसात्मक तरीकों का अवलम्बन कर के, यहाँ तक कि कठपुतली सरकारें बनाकर उनके द्वारा जबरन कम्यूनिस्ट व्यवस्था को दूसरों पर थोपने में प्रयत्नशील है।

सभी हमलावर तथा साम्राज्य विस्तार की इच्छुक शक्तियां बराबर संसार की शान्ति को भंग करती रही हैं फिर सोवियत् संघ की साम्राज्यशाही इससे क्योंकर मुक्त हो सकती है।

१९४५ से लेकर अब तक रूस लगभग ७५ लाख वर्गमील नई भूमि पर कब्ज़ा कर चुका है फिर उसने ५० करोड़ से भी अधिक व्यक्तियों को अपना गुलाम बना डाला है। अब वह एशिया में भी अपना साम्राज्य-विस्तार करने के लिए प्रयत्नशील है।

साम्राज्य-विस्तार की भावना से प्रेरित होकर रूस ने तीन राष्ट्रों––इस्टोनिया, लैटविया और लिथुआनिया का अस्तित्व ही इस दुनिया से मिटा दिया है। उसने संसार के छः राष्ट्रों को––पोलैण्ड, हंगरी, रूमानिया, बल्गेरिया, अल्बानिया और चेकोस्लोवाकिया—जोकि १९३९ से पूर्व स्वतंत्र थे, परतंत्रता की शृंखलाओं में जकड़ लिया है और अब रूसी नेताओं ने इसी दुर्दशा में ग्रस्त करने के लिए कम्यूनिस्ट चीन को अपना ध्येय बनाया है।

जो लोग रूसी शासन के अन्तर्गत आ गए हैं, उन्होंने न केवल अपनी



राष्ट्रीय स्वाधीनता को ही खो दिया है, बल्कि अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता से भी वे हाथ धो बैठे हैं। रूसी प्रभावान्तर्गत प्रत्येक कठपुतली राज्य रूसी नमूने का ही एक पुलिस-राज्य है। उसकी सरकार का नियन्त्रण और बहुधा वास्तव में उसका कार्य-संचालन रूस के एजेण्टों व कारिन्दों के द्वारा होता है। उसकी आर्थिक व्यवस्था का शोषण सोवियत संघ के ही लाभ के लिए किया जाता है। खुफिया पुलिस की कड़ी निगरानी में वहाँ की जनता सदा आतंकित रहती है। लोगों को अपनी इच्छानुसार बोलने, वोट (राय) देने अथवा पूजापाठ करने की स्वतन्त्रता नहीं है। उन्हें रात्रि के समय जेलों और नज़रबन्द कैम्पों में बन्द किया जा सकता है अथवा मौत के घाट उतारा जा सकता है और ऐसा अक्सर होता भी रहता है, किन्तु किसी की मजाल नहीं कि उसके बारे में कोई पूछताछ या छानबीन कर सके।

रूस और उसके पिट्ठू संयुक्तराष्ट्र संघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के कामों में जानबूझ कर रोड़ा अटकाते रहते हैं। उन देशों की जनता को अमेरिकन व्यक्तियों तथा अन्य स्वतन्त्र लोगों के साथ मिलने-जुलने अथवा पत्र-व्यवहार करने की अनुमति नहीं है।

रूस से प्रभावित गुट्ट और स्वाधीन विश्व के मध्य निरन्तर बढ़ता हुआ यह

मतभेद, जैसा कि कतिपय लोग गलती से समझते हैं, वास्तव में पूँजीवाद और कम्यूनिज्म के मध्य संघर्ष नहीं है। वास्तव में संसार के स्वाधीन राष्ट्रों में आप कुछ ऐसे राष्ट्र भी पायेंगे, जो किसी भी दृष्टि से पूँजीवादी नहीं हैं, और जिन्होंने स्वेच्छा से और स्वतन्त्रतापूर्वक समाजवादी पद्धति को अपनाया है।

यह संघर्ष वास्तव में एक शक्ति-लोलुप सरकार—जो जोर-जबरदस्ती, आतंक और प्रत्येक अन्य साधनों का अवलम्बन करके अपनी शक्ति का प्रसार करने पर तुली हुई है—और स्वाधीन राष्ट्रों के उस समुदाय के मध्य चल रहा है जो किसी भी हालत में उसके अधीन नहीं होना चाहता अथवा उसके आधिपत्य में नहीं रहना चाहता अथवा निश्चेष्ट खड़े रहकर और हाथ-पर-हाथ धरकर यह नहीं देखना चाहता कि उसके सदस्यों को वह शक्ति-लोलुप सरकार हड़प कर जाय।

यह सत्य है कि अधिकांश अमेरिकन सहज-स्वभाव से ही कम्यूनिस्ट विचारों और साधनों से घृणा करते हैं, परन्तु वे इस बात के भी पोषक हैं कि यदि किसी राष्ट्र के लोगों का बहुमत स्वेच्छापूर्वक कम्यूनिस्ट प्रणाली के पक्ष में है तो उसे उस (कम्यूनिस्ट) प्रणाली के अन्तर्गत जीवन बिताने का पूर्ण अधिकार है। पर ऐसी एक भी मिसाल देखने में नहीं आई, क्योंकि स्वयं कम्यूनिज्म किसी भी व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से कोई निर्णय करने का अधिकार नहीं देता है। अब तक एक भी ऐसी कम्यूनिस्ट सरकार देखने में नहीं आई है जिसने एक स्वतन्त्र चुनाव अथवा स्वतन्त्र मतगणना के समय कभी अपनी जनता को इस प्रकार से कोई स्वतन्त्र निर्णय करने का अधिकार दिया हो।

रूसी दृष्टिकोण के अनुसार लोगों को स्वेच्छा से किसी बात का निर्णय करने की आजादी देना न केवल आपत्तिजनक माना जाता है बल्कि तर्क-संगत भी नहीं है। कम्यूनिस्ट नेताओं और उनके अनुयायियों का कहना है कि संसार में केवल एक शाश्वत 'सत्य' है और वह है कम्यूनिस्ट सिद्धान्त। परन्तु हमारा यह विश्वास है कि संसार में और भी अनेकों सत्य और सिद्धांतों

के लिए गुंजाइश है; साथ ही सैद्धान्तिक विभिन्नता उन्नति और प्रगति की कुञ्जी है।

रूस वालों का विश्वास है कि शासन-सूत्र वहन करने का अधिकार केवल राज्य को होता है जो जन-शक्ति से भिन्न तथा जनता से ऊपर है। इसके विपरीत हमारा दृढ़ विश्वास यह है कि शासन-सूत्र वहन करने का एक-मात्र अधिकार जनता को है और राज्य जन-समुदाय का स्वामी न होकर सेवक होता है।

यह विरोध नया नहीं, अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। मानव-समाज के प्रारम्भिक काल से ही यह चल पड़ा है। आज के युग में इस संघर्ष का स्वरूप भयंकर और संगीन इसलिए हो गया है कि एक ही सिद्धान्त और एक ही अधिकारी व शक्ति की पुरानी और प्रतिक्रियावादी विचारधारा, एक आक्रमणकारी तथा निजी प्रभाव-क्षेत्र को विस्तार देने वाली शक्ति के लिए हथियार का काम दे रहा है, जिसके हाथों में ७० करोड़ से भी अधिक व्यक्तियों के जीवन-मरण का प्रश्न अवलम्बित है। केवल इतना ही नहीं, यह महान् शक्ति अन्ततोगत्वा संसार के सभी लोगों पर अपने सिद्धान्तों को थोपने और अधिकारपूर्ण सत्ता लादने की आशा करती है।

अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रूस की सरकार और उसके अभिकर्ता (एजेण्ट) प्रचार के द्वारा तथा आतंक को साधन बनाकर अन्य (शासन) पद्धतियों की नींव को भीतर से गुप्त रूप से खोखली करने में लगे हुए हैं। इन साधनों के सफल होने की अत्यधिक सम्भावना जहाँ-कहीं भी परिस्थितियाँ कमजोर अथवा नाजुक होती हैं, वहीं होती है।

संसार में आज परिस्थितियाँ उन प्रदेशों में नाजुक होती जा रही हैं, जहाँ लोग युद्ध के कारण तथा शत्रु के द्वारा अधिकृत होने के परिणामस्वरूप निराश, हतोत्साह और आचार-भ्रष्ट हो चुके हैं; जिन देशों पर रूसी सेना कब्जा किये हुए है; जहाँ की सरकारें शक्तिहीन हैं और जहाँ के निवासियों में फूट पड़ी हुई है; जहाँ लोगों ने औपनिवेशिक शासन-प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर रखा है और जहाँ गरीबी और निर्धनता ने लोगों की

कमर तोड़ रखी है और उन्हें अपनी इन मुसीबतों से मुक्ति पाने का कोई उपाय नहीं सूझ पड़ रहा है।

सोवियत असर आमतौर पर उन प्रदेशों में असफल रहा है जहाँ की परिस्थिति सुदृढ़ है। ऐसी परिस्थितियाँ उन देशों में हैं, जहाँ लोग एक लोकप्रिय सरकार की छत्रछाया में संगठित हैं और एक स्वर से अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए कटिबद्ध हैं और जहाँ लोग अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों से अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ से प्रबल सहायता की आशा रख सकते हैं; जहाँ लोग स्वयं अपनी कोशिशों से एक श्रेष्ठ जीवन के सृजन करने की आशा कर सकते हैं।

रूसी साम्यवाद के द्वारा प्रसारित खतरे के विस्तार को रोकने में अमेरिका की नीति का मुख्य प्रयोजन संसार में शक्ति-सम्वर्द्धिनी परिस्थितियां पैदा करने का रहा है।

इस नीति पर विचार-विमर्श करने तथा उसके स्पष्टीकरण के लिए यहां अपने पाठकों के सामने अमेरिका के पर-राष्ट्र सचिव द्वारा नियोजित एक पत्र-प्रतिनिधि सम्मेलन का दृश्य प्रस्तुत किया जाता है—

प्रेस कान्फ्रेंस १९५०

अमेरिका का संयुक्त राष्ट्र जो कुछ भी आजकल करने का फैसला करता है, वही विश्व के लिए एक महत्वपूर्ण समाचार का रूप धारण कर लेता है। और इसी प्रकार अमेरिका यदि कुछ नहीं भी करना चाहता है तो वह भी दुनिया के लिए उतना ही महत्वपूर्ण समाचार बन जाता है।

हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इस निर्णय का असर ऐसे करोड़ों लोगों पर पड़ता है, जिन्हें हमने कभी देखा तक भी नहीं है। साधारणतया सीधी और सच्ची बात तो यह है कि अमेरिका जो कुछ भी करता है उस प्रत्येक कार्यवाही का असर विश्व-शान्ति पर तत्काल पड़ता है।

अमेरिका की वैदेशिक नीति के सम्बन्ध में समाचार और जानकारी उपलब्ध करने का एकमात्र महत्वपूर्ण स्रोत वाशिंगटन में अमेरिका के वैदेशिक

विभाग का कार्यालय है। यहां देशी और विदेशी समाचार एजेंसियों और पत्र-पत्रिकाओं, तथा देश-भर में व्याप्त रेडियो-जाल का प्रतिनिधित्व करने वाले लगभग १३५ स्त्री-पुरुष राज्य-विभाग की सूचना प्रसारित करते रहते हैं। कम-से-कम सप्ताह में एक बार तो ये लोग अमेरिका के विदेश-मंत्री से मुलाकात करने के लिए वैदेशिक विभाग के सभा-भवन में एकत्र होते हैं।

इस प्रकार के सम्मेलनों का उद्घाटन पर-राष्ट्र सचिव द्वारा प्रायः पहले से तैयार किये हुए बहुत-से वक्तव्यों को पढ़कर सुनाने के रूप में होता है। इसके पश्चात् उन वक्तव्यों पर आपसी बातचीत के रूप में विचार विनिमय करने का समय मिला करता है।

गत फरवरी १९५० के प्रारम्भ में इसी प्रकार के एक साप्ताहिक सम्मेलन में (बजाय वक्तव्य देने के) पर-राष्ट्र सचिव ने सम्मेलन का उद्घाटन आपसी बातचीत प्रारम्भ करके किया। उन्होंने कहा—"कुछ समय पूर्व सीनेट में दिये गए दो भाषणों पर मनन करने के फलस्वरूप मेरे मन में जो विचार उठे हैं, मैं उन विचारों को पत्र-प्रतिनिधियों के समक्ष उपस्थित करना चाहता हूँ।"

इन दोनों ही भाषणों में यह सुझाव पेश किया गया था कि अमेरिका रूस के साथ समझौता करने के लिए फिर नये सिरे से बातचीत शुरू करे। एक भाषण में परमाणु-शक्ति के नियंत्रण पर प्रकाश डाला गया था और दूसरे में केवल निःशस्त्रीकरण के प्रश्न पर ही बातचीत करने के लिए एक सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव किया गया था।

पर-राष्ट्र सचिव ने कहा—"मेरी राय में ये दोनों भाषण अमेरिकी जनता की उस अत्यन्त बुनियादी आकांक्षा को व्यक्त करते हैं, जिसका मुख्य लक्ष्य संसार में शान्ति स्थापित करना है। उस शान्ति-स्थापना के उद्देश्य की प्राप्ति समझौते के तरीके को अपनाकर की जाय, यह न केवल नितान्त वांछनीय है, बल्कि उसे प्राप्त करने का इससे सरल और आसान और कोई तरीका हो भी नहीं सकता। लेकिन अपने चार साल के अनुभव से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ऐसा होना सम्भव नहीं है।" पर-राष्ट्र सचिव ने इस

सम्बन्ध में विषद रूप से प्रकाश डालते हुए बताया कि आखिर क्योंकर यह सम्भव नहीं हो सका है।

उन्होंने बतलाया—"हमने यह देखा है कि रूस के साथ किये गए समझौते उसी हालत में उपयोगी और कारगर साबित होते हैं, जब तक कि वे तथ्यों अथवा सही स्थिति को व्यक्त करते हैं और जब वे वास्तविक स्थिति से कोई मेल नहीं खाते तब उनका कोई लाभ नहीं होता।"

उदाहरण के तौर पर विदेश मंत्री ने बर्लिन की स्थिति का उल्लेख किया। उन्होंने बतलाया—"बर्लिन में अपने रहने के अधिकार, बर्लिन में हम किस उद्देश्य से टिके हुए हैं, और रूसी क्षेत्र से होकर बर्लिन को आने-जाने के बारे में अपने अधिकार आदि विषयों में हमने रूस की सरकार के साथ सभी तरह के समझौते किये। ये सब सवाल बहुत सीधे और स्पष्ट थे, लेकिन अपने स्वार्थ-साधन के लिए जब आवश्यकता पड़ी तो रूसी सरकार ने बर्लिन में हमारे प्रवेश के अधिकार में शक्ति-प्रयोग द्वारा हस्तक्षेप करने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं दिखलाई।"

अपना वक्तव्य जारी रखते हुए विदेश-मंत्री ने कहा—"आप लोगों को मालूम ही होगा कि जब हमने अन्य मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर ज़ोरदार क़दम उठाया और हवाई जहाज़ों द्वारा यातायात प्रारम्भ कर दिया तथा जर्मनी में एक प्रबल अग्रगामी नीति पर अमल करना शुरू किया तो रूस के होश ठिकाने आ गए। ज्यों ही उसने महसूस किया कि इससे उसकी विदेश-नीति के काम में बाधा पड़ती है तो रूस ने अपनी नीति बदल दी और हस्तक्षेप करना बंद कर दिया।"

अपने वक्तव्य के अन्त में उन्होंने कहा कि "इस प्रकार आपको स्पष्ट हो जायगा कि सवाल रूस के साथ समझौता करने का नहीं है, बल्कि परिस्थिति को भली प्रकार जांचकर उसकी ओर संकेत करने का है।"

उन्होंने बताया कि "यही चीज़ यूनान और तुर्की में हुई। वहाँ भी जब परिस्थितियों को सुलझाने के लिए एक ज़ोरदार क़दम उठाया गया तो रूस ने भी नई परिस्थिति के अनुसार अपनी नीति में परिवर्तन कर दिया।"

इस प्रकार आप देखेंगे कि हमारी बुनियादी नीति समझौते की संभावना का क्षेत्र व्यापक बनाने में सहायक परिस्थितियों का निर्माण करने तथा अनेक हल्कों में विद्यमान निर्बल परिस्थितियों के स्थान पर सुदृढ़ परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की रही है। हमने पश्चिमी यूरोप की कमज़ोर परिस्थितियों के स्थान पर सुदृढ़ और शक्तिशाली परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की भरसक चेष्टा की है और यूरोप के पुनर्निर्माण की हमारी जो योजना है, उसका मुख्य बुनियादी उद्देश्य भी यही है।

यही उद्देश्य हमारे उस कार्यक्रम का भी है, जो चतुर्थ लक्ष्य योजना (Point Four Program) के नाम से प्रसिद्ध है और जिसके अन्तर्गत हम संसार के पिछड़े हुए देशों की मदद करने की कोशिश कर रहे हैं। यही उद्देश्य दूसरे देशों को सैनिक सहायता देने की योजना का भी है। विदेश मन्त्री ने बताया कि "संसार के विभिन्न भागों में इतनी सुदृढ़ परिस्थितियाँ उत्पन्न करके रूस के साथ समझौते की सम्भावना का क्षेत्र विस्तृत करने के निमित्त हम जो चेष्टा कर रहे हैं, ये उसके कुछेक उदाहरण-मात्र हैं, जिससे कि उन परिस्थितियों को स्वीकार किया जा सके और उनके परिणामस्वरूप समझौते की नींव रखी जा सके।"

उन्होंने कहा—"यह मार्ग निःसन्देह बड़ा लम्बा, कठिन और बीहड़ है और इस पर चलने के लिए दृढ़-निश्चय, धैर्य, त्याग और इन सबसे अधिक स्थिरता एवं सतत् प्रयास की आवश्यकता होती है। दोनों विश्व-व्यापी महायुद्धों के कारण तथा इन महायुद्धों के बीच के समय में फैली हुई संसार-व्यापी मन्दी के कारण संसार में कई स्थानों पर जो विषम परिस्थितियाँ फैल गई हैं वे भी हमारे मार्ग में कठिनाइयाँ पैदा करने के लिए आंशिक रूप से ज़िम्मेदार हैं। ये विषम परिस्थितियाँ रूस के लिए परम आकर्षक सिद्ध हुई हैं, क्योंकि दूसरों की मुसीबत लाभ से उठाकर स्वार्थ-साधन के लिए इससे बढ़कर सुनहरी मौक़ा उसको दूसरा नहीं मिल सकता था।"

उन्होंने बताया—"उस हालत में उनसे (रूसी सरकार से) यह आग्रह करना कि आप दूसरों की मुसीबतों से लाभ न उठाइए और आइए हम-आप इस बारे में किसी प्रकार का लाभ न उठाने का एक समझौता कर लें, ऐसा होगा

जैसे कि हम प्रकृति के वेग को रोकने का प्रयास कर रहे हों। आप नदी के जड़-प्रवाह से तर्क नहीं कर सकते, आप उसके वेग को रोक नहीं सकते। आप उस पर बाँध बना सकते हैं, उससे कोई अन्य उपयोगी काम ले सकते हैं, उसके प्रवाह की दिशा बदल सकते हैं, लेकिन आप उसके प्राकृतिक वेग को बन्द नहीं कर सकते। इसलिए जैसा कि मैंने आपसे निवेदन किया है, हमें अपना काम जारी रखना चाहिए, जिससे कि हम अपने मार्ग से विचलित न हों। हमारी सारी कोशिशें यही होनी चाहिएँ कि हम विषम परिस्थितियों को बदल डालें ताकि दूसरों को उनसे अनुचित लाभ उठाने का प्रलोभन न प्राप्त हो सके।"

अपना वक्तव्य समाप्त करते हुए विदेश मन्त्री ने इस बात पर खास तौर से जोर दिया—"हम जो भी क़दम उठाएँ, पूरी छानबीन करके ही उठाएँ। हमें हर सम्भावना को दृष्टि में रखना चाहिए। हमें अपने प्रयत्न में कोई शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए।" उन्होंने कहा—"हमें हमेशा यह स्मरण रखना चाहिए कि आज की दुनिया में शान्ति का मार्ग एक बहुत लम्बा और कठिन मार्ग है, परन्तु हमें अपने ध्येय की प्राप्ति के प्रयास में किसी भी हालत में विचलित नहीं होना चाहिए; हमें उस उद्देश्य की प्राप्ति में एक क्षण के लिए भी सन्देह नहीं होना चाहिए।"

* * * *

१९५० में अमेरिका की सर्वोपरि नीति संसार के अनेक हिस्सों में मजबूत स्थिति बनाने की रही थी। इस नीति का मुख्य ध्येय रूस के साथ किसी-न-किसी समझौते पर पहुँचने की ओर रहा है।

इस नीति का मुख्य उद्देश्य संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र को कार्यान्वित करने तक ही केन्द्रित है ताकि संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व-शान्ति का एक शक्तिशाली साधन बनाया जा सके जिसके सामने किसी भी आक्रान्ता को सर उठाने का साहस न हो सके। राष्ट्र संघ के इस घोषणा-पत्र के अनुसार हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम अमेरिका तथा अन्य स्वाधीन राष्ट्रों की

सैनिक व्यवस्था का केन्द्रीयकरण करके एक शक्तिशाली सुरक्षा-पद्धति का निर्माण करें।

इस नीति का उद्देश्य संसार के स्वाधीन राष्ट्रों को राजनीतिक दृष्टि से एक सूत्र में बाँधना तथा दुनिया में रचनात्मक और प्रगतिशील शान्ति की स्थापना के लिए सामूहिक नीतियों को प्रोत्साहन देना है।

इस नीति का लक्ष्य ऐसा आर्थिक कदम उठाना है जिससे कि स्वाधीन राष्ट्र अपना उत्पादन और व्यापार बढ़ा सकें और समृद्ध बन सकें ताकि उन देशों की जनता को यह अनुभव हो सके कि इस प्रकार के ऐच्छिक सहयोग द्वारा वे न केवल अपना बल्कि अपनी सन्तान का जीवन भी अधिक सुखी और समृद्ध बना रहे हैं।

इस नीति का अन्तिम उद्देश्य यह है कि स्वाधीन राष्ट्रों के लोगों को अपनी स्वतन्त्र विचारधारा बनाने का अवसर दिया जाय, उन्हें हर मामले की पूरी-पूरी जानकारी हासिल हो, वहाँ की जनता को दूसरे देशों में जाने और वहाँ के लोगों से मेल-जोल पैदा करने की आजादी हो, और व्यापार की स्वतन्त्रता हो, जिससे संसार में स्वाधीन समाज की स्थापना हो सके और लौह-आवरण के दोनों ओर के सभी लोगों को स्वाधीनता से प्राप्त होने वाले लाभ स्पष्ट किये जा सकें।

यद्यपि इन सभी क्षेत्रों में से प्रत्येक में काफी प्रगति हो चुकी है, फिर भी अभी हमें बहुत कुछ करना बाकी है। अगले अध्यायों में स्पष्ट किया जायगा कि अब तक क्या कुछ किया गया है और अभी आगे ठोस रूप से क्या करना शेष है।

यद्यपि शक्तिशाली मोर्चों का निर्माण करके हम सोवियत विस्तार से उत्पन्न होने वाली समस्या का हल उत्तमता से कर लेते हैं, तथापि हमारे इस कार्य का प्रभाव और भी अधिक पड़ता है।

दूसरे महायुद्ध के परिणामस्वरूप अमेरिका की जनता को जो अनुभव प्राप्त हुआ है और उसे ध्यान में रखकर वहाँ के लोगों ने जो नई व्यापक नीति अख्त्यार की है, यह नीति उसी का एक अंग है। इस अनुभव ने

अमेरिका-निवासियों के दिमाग़ से भौगोलिक सुरक्षा का धोखा और भूत हमेशा के लिए निकाल दिया है। इसने उनके दिमाग से हमेशा-हमेशा के लिए अलग-अलग रहने की भावना को तिरोहित कर दिया है।

इस अनुभव को ध्यान में रखते हुए अब अमेरिका वालों ने अपनी विचारधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर लिये हैं। शनैः-शनैः उन्हें यह अनुभव हुआ और स्वीकार भी करना पड़ा कि अमेरिका के बाहर दूर-दूर के मुल्कों में होने वाली घटनाओं का प्रभाव उनकी सुरक्षा और खुशहाली पर भी पड़ सकता है। भारत में फ़सल की खराबी, चीन में अकाल अथवा बाढ़, फिनलैंड में चुनाव, बोसनिया में कोई हत्याकाण्ड आदि सभी प्रकार की घटनाएं और प्रवृत्तियां चाहे वे अच्छी हों या बुरी, अन्त में उनका प्रभाव अमेरिकी जनता पर पड़े बिना नहीं रह सकता। अन्त में उन्हें यह अनुभव हो ही गया कि अमेरिका के लोग खतरे में रह रहे हैं और भविष्य में भी वे उससे मुक्त न रह सकेंगे।

अपनी विचारधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर चुकने के बाद, अमेरिका के लोगों ने गम्भीरता से इस प्रश्न पर सोचना प्रारम्भ किया कि वे इस खतरे से अपनी और अपने स्वतंत्र समाज की रक्षा कैसे कर सकते हैं। उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की स्थापना और संगठन की योजना बनानी प्रारम्भ की, जिसके अन्तर्गत लोग क़ानून की छत्रछाया में रहते हुए शान्तिपूर्वक जीवन निर्वाह कर सकें।

इस प्रकार के समुदाय का निर्माण करना प्रभूत महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित तथा अत्यन्त दुष्कर होने के साथ-ही-साथ महान आशाओं का द्योतक एवम् प्रबल रूप से उत्तेजनात्मक कार्य है। अमेरिका अब से पहले कभी ऐसे कार्य में नहीं लगा था। यह काम इतना बड़ा और कठिन है कि इसे संभव बना डालने में अपनी पूरी ताकत काम में लाने की आवश्यकता है। यदि आज हमें आक्रमण का भय न होता तो हमने ऐसा कर भी दिखाया होता; उस समय हम यह कह सकते कि यही हमारी वैदेशिक नीति का सार-तत्व है।

परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा सम्भव नहीं है। हमने और अन्य शान्तिप्रिय लोगों ने अपने लिए जो मार्ग निर्धारित किया था, रूस ने अपनी शक्ति और प्रभाव-विस्तार की मस्ती में उसे ऐसे ही काट दिया है जैसे कि कोई तूफ़ान किसी जहाज़ का मार्ग काट दे। इससे हम सभी लोग अपने ध्येय से विचलित हो मीलों दूर जा पड़े हैं। हमारी प्रगति में इससे घातक बाधा पहुँची है और हमारी शक्तियाँ व्यर्थ ही अन्य दिशाओं में बँट गई हैं।

इतना सब होते हुए भी हम आँधी और तूफ़ान का मुकाबला करते हुए अपनी मंज़िल की ओर निरन्तर आगे बढ़े चले जा रहे हैं।

एक अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की स्थापना और उसके निर्माण के आशय क्या हैं?

पहला आशय तो यह है कि अपनी समस्याओं को सामूहिक रूप से हल करने के लिए सदस्यों का संगठन किया जाय और कोई भी इस समुदाय की शान्ति और व्यवस्था के लिए खतरा पैदा करे तो उसके विरोध में अपनी रक्षा के लिए सभी सदस्य मिलकर सामूहिक रूप से प्रयत्न करें। इस प्रकार हमने संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उससे सम्बद्ध विभिन्न विशिष्ट संगठनों के निर्माण की बागडोर संभाली है।

उसका दूसरा आशय है कि युद्ध से जर्जरित राष्ट्रों को फिर से अपने पैरों पर खड़ा होने में सहायता की जाय ताकि इस नये समुदाय के जीवन में वे सक्रिय भाग ले सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमने मार्शल योजना के संगठन की नींव रखी और उससे भी पहले हमने विभिन्न देशों की सहायता के लिए भिन्न-भिन्न योजनाएं बनाईं।

तीसरा आशय उसका यह है कि समाज से बहिष्कृत लोगों को फिर से समाज में एक अच्छे नागरिक के रूप में लाकर बसाया जाय। इसी दृष्टि से हमने जर्मनी और जापान पर अधिकार किया और वहाँ की जनता को प्रजातंत्र का पाठ पढ़ाने का बीड़ा उठाया।

उसका चौथा आशय है संसार के पिछड़े हुए देशों के लोगों की मदद करना, जिससे कि वे भी अपने रहन-सहन का स्तर इतना ऊंचा उठा सकें

जितना कि आधुनिक विज्ञान और टेक्नोलाजी ने संसार के लिए सम्भव बना दिया है। इसलिए हमने उन लोगों की मदद के लिए जो हमारी मदद चाहते हैं और उससे लाभ भी उठा सकते हैं, टेकनिकल सहयोग प्रदान करने की एक चतुर्थ लक्ष्य योजना बनाई है।

उसका पाँचवाँ आशय है एक बुद्धिमत्तापूर्ण व्यापार-प्रणाली की नींव डालना, जिससे कि समुदाय के सभी सदस्य यह आशा कर सकें कि उनकी कार्यवाही से सभी के लिए एक स्वस्थ और उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त कराने वाले आर्थिक जीवन को प्रोत्साहन मिल सकेगा।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमने न्यायोचित व्यापार-सम्बन्धी परम्पराओं की नींव रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा-पत्र तैयार करने और एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संगठन की स्थापना करने में सहायता दी है, जिसके अन्तर्गत विभिन्न राष्ट्र अपने व्यापार-सम्बन्धी झगड़ों का फैसला स्वयं आपसी बातचीत द्वारा कर सकेंगे। आदान-प्रदान के सिद्धान्त पर आधारित व्यापार और आयात-निर्यात-सम्बन्धी करों के बारे में समझौते करके हम धीरे-धीरे विश्व-व्यापार का वह मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं जो एक पीढ़ी से बन्द पड़ा हुआ था।

यह सब-कुछ उस अन्तर्राष्ट्रीय सम्प्रदाय की, जिसकी स्थापना का हमने बीड़ा उठाया है, एक संक्षिप्त-सी रूपरेखा है। अभी यह परीक्षण की दशा में है; कोई भी व्यक्ति यह भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि इस परीक्षण का अन्तिम परिणाम क्या होगा अथवा उसमें कितना समय लगेगा। समय आने पर सम्भव है कि इसके द्वारा सभी प्रकार की युद्ध-सामग्री पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित हो सके जो कि नितान्त आवश्यक है। यह भी सम्भव है कि इस परीक्षण के परिणामस्वरूप अन्त में एक ऐसी विश्व-सरकार की स्थापना हो सके जिसकी सम्भावना से कुछ साहसी लोगों की कल्पना-शक्ति को उत्तेजना और प्रोत्साहन मिलता है।

जहाँ तक तात्कालिक भविष्य का प्रश्न है, संसार के स्वतन्त्र राष्ट्रों का संरक्षण हमारी चिन्ता का मुख्य विषय बन जाना चाहिए। हमारा यह

कर्तव्य हो जाना चाहिए कि हम अपनी शक्ति एवम् साधनों का अधिक-से-अधिक उपयोग इसी कार्य के लिए करें। हमें अपना पूरा ध्यान संसार में स्थान-स्थान पर शक्तिशाली परिस्थितियों का निर्माण करके आक्रमणों को रोकने तथा उनका मुकाबला करने में केन्द्रित कर देना चाहिए। ज्योंही हम इस तात्कालिक एवम् आवश्यक कार्य को हाथ में लेते हैं, हम अपने आपको बहुत-से ऐसे कार्यों में संलग्न पाते हैं, जो यदि संसार में किसी ओर से भी आक्रमण का भय न होता, तो भी हमारे द्वारा सम्पादित होने ही चाहिए थे। हमें पता चलता है कि हम ऐसे कार्यों में जुटे हैं जो राष्ट्रों के सामूहिक-संगठन के निर्माण के लिए अनिवार्य हैं।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि अत्याचार और आतंक का भय एक गुप्त वरदान है। तथ्य उसके विपरीत है और इससे सर्वथा भिन्न। यह (आतंक का भय) बुराई है जिसका बुरा और विषैला प्रभाव रूस की शक्ति के कारण पैदा होने वाले भय के हट जाने पर भी बहुत समय तक संसार को आतंकित करता रहेगा।

कोई भी राष्ट्र इस प्रकार की अग्नि-परीक्षा में से अपना दामन बचाकर अछूता नहीं निकल सकता। परन्तु हम कम-से-कम इस परीक्षा से आत्म-अनुशासन का पाठ पढ़कर तथा स्वाधीनता और शान्ति की स्थापना की दिशा में अपने राष्ट्रीय हितों के सम्बन्ध में अधिक जागरूक होकर अवश्य निकल सकते हैं।

इस पूर्वापर को दृष्टिगत रखते हुए हमें अपनी वैदेशिक नीति के निर्णय करने वाले तरीकों पर विचार करना चाहिए।

इसके निर्माता कौन हैं?

बहुत-से लोग यह जानना चाहेंगे कि विदेश-नीति का निर्माण कैसे और कहाँ होता है?

क्या इसका निर्माण व्हाइट हाउस में (जहाँ अमेरिका के राष्ट्रपति रहते हैं) होता है ? क्या यह नीति विदेश-विभाग के कार्यालय में गढ़ी जाती है ? क्या यह नीति अमेरिकन कांग्रेस में बनती है ? क्या इसका निर्माण मिडलटाउन आयोवा में होता है ? अथवा क्या यह 'टॉप्सी' की तरह स्वयमेव पैदा होती और बढ़ती है ?

इन सभी प्रश्नों का उत्तर स्वीकारात्मक शब्दों में मिलता है।

यह उत्तर उतना भ्रम-मूलक नहीं है, जितना कि प्रतीत होता है।

अमेरिका के संविधान के अन्तर्गत अमेरिका के प्रेसिडेण्ट को वैदेशिक नीतियों के निर्माण करने और उन्हें कार्यान्वित करने का अधिकार दिया गया है। जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होने की हैसियत से जनता की इच्छा को वैदेशिक नीति के रूप में कार्यान्वित करने और राष्ट्रीय हितों को इन वैदेशिक नीतियों के रूप में प्रोत्साहन देने का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है।

संविधान के अनुसार अमेरिकन सेनेट को प्रेसिडेण्ट द्वारा की गई सन्धियों और बड़ी-बड़ी नियुक्तियों की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का अधिकार प्राप्त है। कांग्रेस की दोनों सभाएँ आर्थिक मामलों पर पूर्ण अंकुश रखती हैं, इस प्रकार उन्हें वैदेशिक नीतियों के निर्धारण में काफ़ी अधिकार प्राप्त हैं और इस प्रकार उन नीतियों के लिए कांग्रेस पूर्णतया जनता के प्रति उत्तरदायी है।

संयुक्त रूप से प्रस्तुत किये गए प्रस्तावों के द्वारा भी कांग्रेस यदि चाहे तो वैदेशिक नीतियों के बारे में प्रेसिडेण्ट को सलाह-मशवरा दे सकती है।

१७८६ में प्रेसिडेण्ट वाशिंगटन ने टामस जैफरसन को वैदेशिक नीतियों को क्रियात्मक रूप देने के लिए अपने प्रतिनिधि और सलाहकार के रूप में प्रथम वैदेशिक मन्त्री नियुक्त किया था। आज भी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के संचालन में प्रेसिडेण्ट को सहायता देने के लिए पर-राष्ट्र सचिव और विदेश विभाग उनके दायें हाथ बने हुए हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से संघीय सरकार की अधिकांश संस्थाएँ—जिनकी संख्या कम-से-कम ४३ है—किसी-न-किसी रूप में इस समय वैदेशिक मामलों

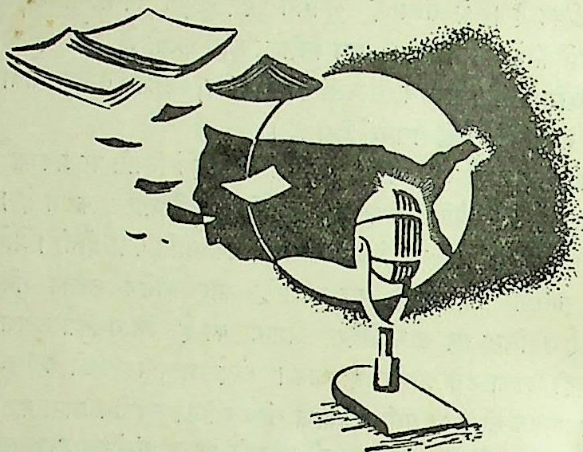
से सम्बन्धित हैं। ये संस्थाएँ लगभग ३३ संयुक्त समितियों और १४२ उपसमितियों के जरिये एक साथ मिलकर काम करती हैं और इनका मुख्य कार्य वैदेशिक नीति सम्बन्धी मामलों का अध्ययन, उनकी समीक्षा तथा उनके सम्बन्ध में प्रेसिडेण्ट को परामर्श देना है।

वैदेशिक मन्त्री श्री एचिसन ने एक बार इस स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि "प्रेसिडेण्ट का काम नीति को निर्धारित करना है। बहुत से मामलों में कांग्रेस यह निर्णय करती है कि नीति क्या होगी। प्रेसिडेण्ट किसी समस्या पर प्रस्ताव रख सकते हैं और कांग्रेस उसका नियंत्रण करती है। किन्तु यह काम विदेश विभाग का है कि समस्या उत्पन्न होने से पूर्व ही उसका उसे आभास हो जाय। कोई प्रस्ताव रखने के लिए यह विभाग शासन की अन्य सभी राजकाजी संस्थाओं का सहयोग प्राप्त कर लेता है। इन प्रस्तावों पर प्रेसिडेण्ट की स्वीकृति अथवा संशोधन प्राप्त करने के पश्चात् यह विभाग उसे हाउस और सेनेट कमेटियों के द्वारा कांग्रेस के सामने पेश कर देता है और इस प्रकार सरकार द्वारा उसे कार्यान्वित करने के योग्य स्वरूप प्रदान करता है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि यह पर-राष्ट्र विभाग (विदेशविभाग) केन्द्रीय शासन की एक प्रकार की कार्यवाहक एजेंसी है।

संसार के ७५ देशों में अपने ३०० कार्यक्षेत्रों (राजदूतावासों इत्यादि) के द्वारा विदेश विभाग सरकार की आँख और कान का काम करता है। इन कार्यक्षेत्रों में काम करने वाले कुशल प्रेक्षकों द्वारा नियमित रूप से प्राप्त होने वाली रिपोर्टों से विदेश विभाग और अन्य संस्थाओं को भावी समस्याओं का पूर्वाभास हो जाता है और वे उनके हल करने की तैयारी में जुट जाते हैं।

इस प्रकार वैदेशिक नीति का निर्माण प्रेसिडेण्ट, कांग्रेस, विदेश विभाग आदि सब मिलकर करते हैं, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, इसमें मिडल टाउन आयोवा जैसे साधारण-से-साधारण गाँवों और कस्बों का भी हाथ रहता है। किन्तु वह किस प्रकार ?

हमारी नीति इस बात पर प्रकाश डालती है कि हम क्या हैं और हमारी आवश्यकताएँ क्या हैं। किन्तु हमारे देश के समान एक विशाल



भूखण्ड के बारे में, जिसमें हमारी तरह भिन्न-भिन्न कोटि के असंख्य प्राणी रहते हों, यह पता लगा लेना कि यह देश कैसा है और इसकी आवश्यकताएँ क्या हैं, ज़ाहिरा तौर पर एक असम्भव कल्पना प्रतीत होती है। बहुत से विदेशी पहले-पहल अमेरिका में व्याप्त भिन्न-भिन्न भाषाओं के कोलाहल और अव्यवस्था रूपी हड़बोंग को देखकर इस देश के बारे में कोई अच्छी कल्पना नहीं करते, किन्तु ज्यों-ज्यों वे हमें समझते जाते हैं उनका हमारे प्रति पहले का भ्रम दूर होता जाता है। हमारी भिन्न-भिन्न भाषाओं के कोलाहल की पृष्ठभूमि में उन्हें स्वरों के सामञ्जस्य की एकात्मता और अव्यवस्था रूपी हड़बोंग के मूल में व्यवस्था का प्रवाह परिलक्षित होने लगता है।

वास्तव में प्रायः एक राष्ट्रीय उद्देश्य के सम्बन्ध में अपनी राय बनाने और अपने विचार व्यक्त करने में अमेरिका की जनता संसार के अन्य लोगों की तुलना में कहीं अधिक बेहतर स्थिति में है। इसकी वजह यह है कि हमारे संचार के साधन अनेक और सुदृढ़ हैं। इसकी एक वजह यह भी है कि अमेरिकन समुदाय का वातावरण जो कि न्यू-इंगलैंड की नगर-सभा से मिलता

जुलता है और उसे थाती में प्राप्त हुआ है, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्र राय कायम करने और उसे व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

अमेरीका के लोग प्रायः रोज़ ही हज़ारों तरीके से अपने विचार व्यक्त करते रहते हैं। वे पत्रों के और तारों के द्वारा अपनी सरकार के साथ प्रत्यक्ष रूप से तथा अखबारों और रेडियो के द्वारा तथा अपने गिरजाघरों, क्लबों, मज़दूर संस्थाओं के नेताओं तथा संगठनों के द्वारा परोक्ष रूप से सम्पर्क बनाये रखते हैं।

संचार के साधन यद्यपि पहले ही काफ़ी अच्छे हैं, लेकिन उन्हें और भी अच्छा बनाया जा सकता है। गत कुछ वर्षों से सरकार ने जनता के साथ घनिष्ट सम्पर्क स्थापित करने की ज़ोरदार और अत्यधिक चेष्टा की है तथा तथ्यों और विचारों के आदान-प्रदान के दोतरफ़ा साधन उन्नत करने का प्रबल प्रयास किया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना और मार्शल योजना इस प्रयास के ज्वलंत उदाहरण हैं। इन दोनों महत्वपूर्ण नीतियों के निर्धारण में जनता और सरकार दोनों ने मिलकर वास्तविक रूप से सहयोग प्रदान किया है और उन्हें इसमें कुछ हद तक सफलता भी मिली है।

काफी वादविवाद के उपरान्त ही राष्ट्र इन दोनों निर्णयों को अपना सका था। कांग्रेस की कमेटियों के सामने सार्वजनिक रूप से इनके पक्ष और विपक्ष में काफी समय तक लंबे-लंबे वादविवाद होते रहे। इन बैठकों में देश के नागरिकों ने निःशंक होकर भाग लिया और अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये। इन दोनों महत्वपूर्ण फैसलों का परिणाम यह हुआ कि नागरिकों की कमेटियाँ बनाई गईं, जिन्होंने इस समस्या पर पूर्ण रूप से मनन करके अपनी रिपोर्टें पेश कीं।

प्रजातन्त्रात्मक रूप से वैदेशिक नीति के निर्माण का इससे कोई सरल नुस्खा नहीं है। हमारा देश चूँकि विशाल है और उसमें विभिन्न प्रकार के लोग रहते हैं, हमारी नीतियों का निर्माण सदैव अनेक विचारों और हितों के सामञ्जस्य से ही सम्भव हो सकता है। ज्यों-ज्यों जनता और उनकी

सरकार एक दूसरे की जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक रहेंगे और सचेष्ट होकर प्रजातन्त्र के उन सिद्धान्तों का जिनसे कि हम शक्तिशाली और स्वाधीन बने हैं, प्रतिपादन करते रहेंगे, तब तक यह सम्मिलन अधिक सुदृढ़ और उन्नत होता चला जायगा।

२

राष्ट्रीय सुरक्षा की ओर

. . . .

हर देश की सरकार की एक मुख्य जिम्मेदारी यह भी होती है कि वह उस जन-समुदाय की सुरक्षा के लिए समुचित व्यवस्था करे, जिसकी सेवा का वह भार वहन करती है। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपनी रक्षा स्वयं करे और अपने बच्चों का भविष्य सुखमय और सुरक्षित बनाने की चेष्टा करे।

लेकिन सुरक्षा के लिए हमारी इस स्वाभाविक और नितान्त आवश्यक चिन्ता के साथ-साथ स्पष्ट रूप से यह जानना और मानना भी अत्यन्त आवश्यक है कि हम इसके पीछे पड़े क्यों हैं? इस अध्याय में अमेरिका के लोगों की सुरक्षा की आवश्यकताओं पर प्रकाश डालते हुए यह बतलाने का प्रयत्न किया जायगा कि हम इस दिशा में क्या कुछ कर रहे हैं।

निःसन्देह हम 'अमेरिका की सुरक्षा' की बात तो करते हैं, लेकिन साथ ही हम यह भी अवश्य अनुभव करते हैं कि 'सुरक्षा' शब्द की ऐसी एक भी परिभाषा नहीं है, जिससे सभी राष्ट्रों को सन्तोष हो सके। हर देश की जनता संसार और उसकी समस्याओं को अपने ही दृष्टिकोण से देखती है और इसलिए अपनी सुरक्षा की आवश्यकताओं का अन्दाज़ा स्वयम् अपने ही दृष्टिकोण को सामने रखकर लगाती है।

'प्रजातन्त्र' शब्द की भांति लोगों ने 'सुरक्षा' शब्द का भी उपयोग अथवा दुरुपयोग नाना प्रकार की राष्ट्र-नीतियों के समर्थन में अपने-अपने दृष्टिकोण से किया है। इस शब्द की दुहाई दे-देकर संसार में भयंकर अपराधों की सृष्टि की गई है। हिटलर ने जर्मनी की सुरक्षा के नाम पर आस्ट्रिया

और चेकोस्लोवाकिया को हथिया लिया और पोलैण्ड को पैरों तले रौंद डाला। स्टालिन ने कठपुतली सरकारों की एक शृङ्खला-सी यह कहकर बना ली कि आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए रूस को मित्रता क़ायम रखने वाले पड़ोसियों की आवश्यकता है।

जर्मनी के दो आक्रमणों के अनुभव को ध्यान में रखते हुए फ्रांस ने एक मेजिनो रक्षा-पंक्ति बनाई और उसकी रक्षा के लिए एक बड़ी और स्थायी सेना का निर्माण किया।

हिटलर और स्टालिन दोनों ने ही 'सुरक्षा' के नाम पर दुनिया को दो प्रभावशाली गुटों में बाँटने की कोशिश की ताकि वे अपने-अपने प्रभाव का क्षेत्र विस्तृत कर सकें। उन्होंने कहा कि हमें अपनी सीमा निश्चित कर लेनी चाहिए, अपनी सीमा में हम अपनी मनमानी करेंगे और आपकी सीमा में आपको पूरी आज़ादी है, आप वहाँ जो चाहें करें। वास्तव में अब भी इसी विचार के कुछ लोग हैं, जो विश्वास रखते हैं कि इसी तरह के किसी 'समझौते' से अमेरिका की सुरक्षा में सहायता मिलेगी।

सुरक्षा के सम्बन्ध में अमेरिका के विचारों और शक्ति-प्रयोग के इन परम्परागत विचारों में कोई सामञ्जस्य नहीं है। दोनों विचार-धाराएँ एक दूसरे के सर्वथा प्रतिकूल हैं। हमारे लिए यह चीज़ कल्पनातीत है—जैसा कि प्रत्यक्ष रूप से हिटलर का ख़याल था—कि आक्रमण और विजय द्वारा किसी राष्ट्र की सुरक्षा का, जिसमें विजेता की सुरक्षा भी शामिल है, मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है।

हिटलर के आक्रमण की शिकार रूसी जनता की यह इच्छा कि उसे मित्रतापूर्ण पड़ोसियों की आवश्यकता है, आसानी से समझ में आ सकती है। लेकिन एक बड़े राष्ट्र के चारों ओर छोटे-छोटे राष्ट्रों की कठपुतली सरकारें स्थापित करने से तो यह समस्या हल नहीं हो सकती। उससे किसी को भी सुरक्षा की आशा नहीं हो सकती, खासकर उन राष्ट्रों को जो उस व्यवस्था के अन्तर्गत रह रहे हैं।

हमने मेजिनो रक्षा-पंक्ति की भावना से प्रेरित होकर जो धारणा बनाई थी कि हमारे देश के दोनों ओर फैले हुए विशाल महासागर विदेशी आक्रमणों से हमारी रक्षा कर सकेंगे, वह धारणा कितनी निर्मूल सिद्ध हुई, इसका प्रमाण इसी से मिलता है कि हमें बहुत बड़ी कीमत देकर पर्ल बन्दरगाह से भागना पड़ा था।

अधिकांश अमेरिकन अब यह जान गए हैं कि आधुनिक संसार में दुर्घटना, विपत्ति और मनुष्य की ग़लतियों से पूर्णतया मुक्ति पाना कठिन है। हम यह बात भी खूब अच्छी तरह से समझ सकते हैं कि सुरक्षा से यह तात्पर्य नहीं कि उच्च-कोटि की सैनिक-शक्ति अथवा उच्च-कोटि के शस्त्रास्त्र हमारे अधिकार में हों।

सारांश यह है कि हम कभी इस विचार-धारा से सहमत नहीं रहे कि भिन्न-भिन्न शक्ति-केन्द्रों में विभक्त संसार हमें सुरक्षा प्रदान कर सकेगा। हमें इस प्रकार की धारणा अव्यावहारिक, मिथ्या एवम् नैतिक दृष्टिकोण से अक्षम्य प्रतीत होती है।

आज १६५१ में यह विचार करना कि दो बड़ी ताकतें आपस में बैठ कर दुनिया को दो हिस्सों में बाँट लें और इस तरह से मनमाने ढंग से अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों की जनता के भाग्य का निपटारा कर दें एक व्यंग चित्रकार के मन-बहलाव के लिए सामग्री भले ही प्रस्तुत कर दे किन्तु संसार के प्रजा-तन्त्र राष्ट्र और उनकी जनता कभी ऐसा विचार मन में लाने को तैयार नहीं। इस सुझाव-मात्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कोई भी सभ्य और स्वतन्त्रताप्रिय राष्ट्र उस पर ध्यान नहीं देगा और न वह सुरक्षा अथवा उसके झूठे वायदे के लिए इतनी कीमत देने को तैयार ही होगा।

सुरक्षा के प्रश्न के सम्बन्ध में अमेरिकन दृष्टिकोण को समझने के लिए हमें इस समस्या पर दो पहलुओं से विचार करना होगा—पहले यह कि आज हम जिस तरह की दुनिया में रह रहे हैं, उसमें हम किस तरह और किस सीमा तक सुरक्षा की व्यवस्था कर सकते हैं। दूसरे, यदि हम अपनी सन्तान का भविष्य सुरक्षित और सुखद बनाना चाहते हैं तो हमें उसकी सुरक्षा

व्यवस्था का निर्माण आज से ही करना होगा। जैसे-जैसे हम इस समस्या पर अधिकाधिक प्रकाश डालेंगे हमें स्पष्ट होता जायगा कि सुरक्षा के लिए हम जो अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन योजनाएँ बना रहे हैं, उनका हमारी नीतियों से कितना घनिष्ट सम्पर्क है।

यदि हम साफ-साफ शब्दों में कहें तो हमारी अल्पकालीन समस्या यह है कि हम इस पुरोगामी विश्व-समाज में एक स्वाधीन राष्ट्र के रूप में अपना अस्तित्व कैसे कायम रख सकते हैं। आज हमारी स्थिति वैसी ही है जैसी कि पश्चिम में आकर बसने वाले आदि-निवासियों की थी। उस युग में कानून और व्यवस्था कायम होने से पूर्व और परिवारों के लिए सामूहिक संरक्षणों की व्यवस्था किये जाने से पूर्व, जिन्हें इस समय हम स्वाभाविक अधिकार समझते हैं, हर व्यक्ति हमलावरों और लुटेरों से अपनी और अपने परिवार की रक्षा के लिए हथियार लिये घूमता था।

आज के युग में प्रत्येक राष्ट्र को सशस्त्र रहना पड़ता है और अकेले तथा निरस्त्र राष्ट्र बहुधा सिद्धान्तहीन और विवेक-शून्य आक्रान्ता की दया-भिक्षा पर निर्भर रहते हैं।

यहाँ आकर बसने वाले उन आदि-निवासियों में से कुछ दूरदर्शी और अनुशासनप्रिय लोग आत्मरक्षा की भावना से प्रेरित होकर जनवर्ग के लिए प्रस्थापित रक्षा-दलों में भरती हुए। धीरे-धीरे कानून और शासन-व्यवस्था की एक अपरिमार्जित और अस्पष्ट प्रणाली का विकास होने लगा, जिसके संरक्षण में प्रत्येक नवागन्तुक जमीन साफ करके उसमें खेती करने के काम में लग पड़ा, किन्तु हर समय उसे फिर भी लुटेरों के भय से सतर्क रहना पड़ता था।

इसी प्रकार आज शान्तिप्रिय राष्ट्र बिना अपनी स्वतन्त्रता को खोये कुछ सीमा तक सुरक्षा की व्यवस्था करने के निमित्त संगठित हुए हैं। इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के प्रारम्भिक चरण में राष्ट्रों को यह भय बना हुआ है कि कहीं कोई आक्रान्ता अचानक ही अथवा जान-बूझकर लड़ाई न छेड़ दे। पिछले ३५

वर्षों से हम अमेरिका-निवासी अपने व्यक्तिगत जीवन में उस खतरे का प्रभाव अनुभव करते चले आ रहे हैं।

हमने अन्तर्राष्ट्रीय अपराधियों को निःशंक होकर अपना काम करते हुए देखा है; हमने यूरोप और एशिया में लोगों को धकेले जाते, अपमानित होते, डराये-धमकाये जाते और अन्त में एक-एक करके उन पर आक्रमण होते देखा है। ऐसा समाज जो अपराधियों को कानून भंग करने की खुली छुट्टी देता है, उस समाज में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए हमने कुछ साधारण नियम सीखे हैं।

अब हम यह जान गए हैं कि संसार में 'अन्यत्र युद्ध' जैसी कोई चीज़ नहीं रही है। अब किसी भी राष्ट्र के लिए अकेले बैठकर करने के लिए कोई भी पार्श्वकार्य (साईड लाईन) बाकी नहीं रह गया है। हम यह भी खूब समझ गए हैं कि युद्ध से बचने का एकमात्र तरीका यह है कि पहले से ही उसकी रोक-थाम कर ली जाय। हमने यह भी सीखा है कि एक पुरोगामी समाज में आप निःशस्त्र रहकर युद्ध की रोक-थाम नहीं कर सकते, क्योंकि जहाँ एक ओर शान्तिप्रिय राष्ट्र ईमानदारी के साथ समझौतों पर अमल करते रहते हैं, वहाँ दूसरी ओर आक्रमण करने वाले राष्ट्र उनकी निरन्तर अवहेलना करते हैं। हमें पूर्ण विश्वास हो गया है कि कम-से-कम वर्तमान परिस्थिति में शान्तिप्रिय राष्ट्र और उनके समाज का हित इसी में है कि वे सशस्त्र एवम् शक्ति-सम्पन्न होकर संसार-व्यापी सुरक्षा के लिए सामूहिक रक्षा-पंक्ति को सुदृढ़ बनाएँ।

कटु अनुभव और महान् बलिदान के फलस्वरूप यह जो शिक्षा हमें प्राप्त हुई है, वही शिक्षा राष्ट्रीय सुरक्षा के सम्बन्ध में अमेरिका के लिए एक नए दृष्टिकोण का निर्माण कर रही है। 'पृथ्वी गोल है', इस विश्वास के आधार पर कोलम्बस पश्चिम की ओर अग्रसर हुआ था। इसी दृढ़ विश्वास से प्रेरित होकर कि संसार के राष्ट्र एक दूसरे पर आश्रित हैं, हमने भी एक उतने ही साहसिक कार्य 'सामूहिक सुरक्षा' का बीड़ा उठाया है।

हम शान्तिप्रिय राष्ट्रों की मदद के लिए सदैव तत्पर रहे हैं, किन्तु

युद्ध को छोड़कर हम कभी भी उनके गुट में शामिल होने के लिए राज़ी नहीं हुए। परन्तु अब हम दोनों बातों के लिए ही तैयार हैं और ऐसा हम इसलिए कर रहे हैं कि वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए राष्ट्रीय हितों की यही मांग है।

दीर्घकालीन समस्या

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय पुरोगामी समाज को स्वाधीन राष्ट्रों के एक व्यवस्थित समुदाय का रूप देना हमारा दीर्घकालीन उद्देश्य रहा है। ये समुदाय-सम्बन्धी धारणाएँ मनुष्य के मस्तिष्क में तो हज़ारों वर्षों से घूम रही हैं किन्तु राष्ट्रों के दिमाग में ये नई-नई पैदा हो रही हैं। इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय समूह के संगठन में सम्भवतः कई पीढ़ियाँ लग जायँ, परन्तु हमने इसका श्रीगणेश कर दिया है। यह हो सकता है कि अत्यन्त आवश्यक परिस्थितियों के कारण इस प्रक्रिया की रफ्तार में तेज़ी आ जाय और निकट भविष्य में इस प्रकार का संगठन शीघ्र ही सफल हो सके।

किसी भी समुदाय की स्थिति राजनैतिक एवम् आर्थिक दोनों आधारों पर अवलम्बित होती है, किन्तु इससे भी अधिक आवश्यकता होती है उसे नैतिक-स्तर सम्बन्धी सुदृढ़ता की—सदाचार एवम् शील की। किसी भी समुदाय का संगठन सफल हो, इससे पूर्व उस समुदाय के अधिकांश सदस्यों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे शिष्टता एवम् पारस्परिक सद्व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले मूलभूत सिद्धान्तों का भली प्रकार मनन करके व्यावहारिक रूप से उन्हें अपने जीवन में ढालने का प्रयत्न करें। ऐसे समुदाय में सदस्यों का बहुमत केवल इस पक्ष में ही नहीं होना चाहिए कि समाज का नैतिक स्तर ऊँचा रहे, बल्कि उसे क्रियात्मक रूप से ऊँचा उठाया जा रहा है इस पर भी उन्हें जोर देते रहना चाहिए। जिसे 'शील एवम् सदाचार सम्बन्धी सैद्धान्तिक एकात्मता' की भावना कहा जाता है 'कानून

और व्यवस्था' उसी पर आधारित हैं, क्योंकि वास्तविक सामुदायिक जीवन का प्रारम्भ इसी भावना से होता है।

आज से पाँच वर्ष पूर्व हमने इस अन्तर्देशीय सामुदायिक कल्पना को साकार रूप देने के लिए 'संयुक्त राष्ट्र संघ' के रूप में एक महान् प्रयोगशाला के निर्माण में सहयोग किया था।

संयुक्त राष्ट्र संघ

अमेरिका के लोगों ने ही सबसे पहले संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की मांग की और उन्होंने ही आगे बढ़कर उसका निर्माण करके परम्परागत स्थिति में परिवर्तन ला दिया। उन्हें यकीन हो गया था कि सभी राष्ट्र एक-दूसरे पर आश्रित हैं। उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बिना भावी शान्ति और सुरक्षा की कोई आशा नहीं दिखाई दी।



'संयुक्त राष्ट्र संघ' के घोषणा-पत्र का निर्माण करने वालों के मन में एकमात्र सर्वोपरि विचार 'सुरक्षा' का था। सान्-फ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लेने वाले ५१ राष्ट्रों की जनता की सार्वभौम आशा यही थी कि 'आगे आने वाली पीढ़ियों को युद्ध के अभिशाप से बचाया जाय'। उनमें से सभी राष्ट्र एक भयंकर लड़ाई में फँस चुके थे। संसार में शान्ति स्थापित करने की अपनी सारी आशाओं को उन्होंने 'संयुक्त राष्ट्र संघ' में केन्द्रित कर दिया।

चूँकि संसार में अभी तक शान्ति नहीं है और अब तक युद्ध का

आतङ्क हम पर छाया हुआ है, इसलिए संयुक्त राष्ट्र संघ पर यह दोष लगाया जाता है कि वह अपने सदस्यों की सुरक्षा करने और शान्ति कायम रखने की अपनी जिम्मेदारी को नहीं निभा रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के गत पाँच वर्ष के इतिहास और कार्य से यह पता चलता है कि उसके द्वारा आक्रमण को निरुत्साहित किया जा सकता है, उसके द्वारा संसार के राष्ट्रों में शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं, परन्तु युद्ध की रोकथाम करने और सभी सदस्यों पर शान्ति लादने की उसकी ज़िम्मेदारी और शक्ति अभी बहुत ही सीमित है।

संयुक्त राष्ट्र संघ को कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं है और न अपने निर्णय लागू करने का उसे अधिकार है। घोषणा-पत्र में कोई अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस कायम करने का भी विधान नहीं है, परन्तु उसमें यह व्यवस्था अवश्य की गई है कि सुरक्षा परिषद् राष्ट्रीय सैनिकों की टुकड़ियों के रूप में अपने पास सेनाएँ रख सकती है। घोषणा-पत्र के अनुसार सभी सदस्य-राष्ट्रों को सुरक्षा परिषद् के साथ समझौता करके अपनी-अपनी सैनिक टुकड़ियाँ देने का विधान है। आक्रमण की अवस्था में सुरक्षा परिषद् के निर्देश पर हवाई सेनाओं को तुरन्त ही आक्रान्ता के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए प्रतिक्षण प्रस्तुत रहने का भी विधान में आदेश है।

घोषणा-पत्र के ये प्रावधान इस कारण कार्यरूप में नहीं लाये जा सके क्योंकि सोवियत संघ ने इन सेनाओं की संख्या, उनके स्वरूप और उन्हें कहाँ तैनात किया जाय आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में समझौते के प्रत्येक प्रयत्न को सफल नहीं होने दिया और इस दिशा में उसके द्वारा सदैव रुकावटें डाली गईं।

'परमाणु शक्ति' के प्रभावशाली और क्रियात्मक नियन्त्रण के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रस्तुत की गई योजना और सोवियत समुदाय द्वारा उसके ठुकराये जाने की कहानी अगले पृष्ठों में बताई जायगी। सुरक्षा परिषद् को सशस्त्र करने के तथा हथियारों में से सर्वाधिक घातक अस्त्रों पर नियन्त्रण रखने के सभी प्रयत्नों की असफलता की इस पृष्ठभूमि को ध्यान

में रखते हुए यह कोई आश्चर्य नहीं है कि संयुक्त राष्ट्र संघ को अन्य सैनिक शस्त्रास्त्रों—जिन्हें 'परम्परागत व पुरानी चाल के शस्त्रास्त्रों' के नाम से पुकारा जाता है—के नियमन की दिशा में कोई वास्तविक सफलता नहीं मिली है।

घोषणा-पत्र (चार्टर) के इन प्रावधानों के कार्यान्वित न हो सकने के परिणामस्वरूप सुरक्षा परिषद् के काम में रुकावटें पड़ी हैं और संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रतिष्ठा को भी भारी धक्का पहुँचा है।

लेकिन संयुक्त राष्ट्र संघ को इससे कहीं अधिक हानि उसके एक अत्यधिक प्रभावशाली सदस्य रूस ने संघ के घोषणा-पत्र की बार-बार और खुली अवहेलना करके पहुँचाई है। प्रत्येक राष्ट्र ने इस घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करते समय गम्भीरतापूर्वक यह प्रतिज्ञा की थी कि "वह किसी भी अन्य राष्ट्र की प्रादेशिक अखंडता अथवा राजनीतिक स्वाधीनता के लिए खतरा नहीं पैदा करेगा और न उसके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करेगा।" उस प्रतिज्ञा की गूँज अभी शान्त भी न होने पाई थी कि स्वयम् संयुक्त राष्ट्र संघ की आँखों के सामने ही रूस ने 'आतंक' अथवा 'शक्ति' के प्रयोग द्वारा ५० करोड़ से भी अधिक स्वाधीन लोगों की राजनीतिक स्वतन्त्रता को खत्म कर दिया। पोलैंड, हंगरी, बलगारिया, रूमानिया, अलबानिया, पूर्वी जर्मनी और अन्त में चेकोस्लोवाकिया कठपुतली-सरकारें बन गईं। यही रूसी उद्देश्य चीन में भी बहुत कुछ काम कर चुका है।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने अन्य राष्ट्र, जैसे कि ईरान, तुर्की और यूनान को ऐसे ही आक्रमणों के खतरे का प्रतिरोध करने में भरसक सहायता दी है। साम्यवादी परिवार में अपने को जीवित रखने के लिए यूगोस्लाविया जो संघर्ष कर रहा है, वह राष्ट्र संघ से छिपा हुआ नहीं है।

और परिणाम यह हुआ है कि निश्चेष्ट रहकर संयुक्त राष्ट्र संघ ने रूस को घोषणा-पत्र की ज़िम्मेदारियों की अवहेलना करते और संघ की प्रायः हर बैठक में 'वाक आउट' करते (उठकर जाते) भी देखा है, क्योंकि वह साम्यवादी चीन को राष्ट्र संघ में ज़बरदस्ती शामिल कराने में सफल न हो सका था।

संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण इसलिए नहीं हुआ था कि वह एक महान् शक्ति के आक्रमणों का मुकाबला करे। वास्तव में इसके सदस्य शुरू से ही जानते थे कि शान्ति संस्थापन के लिए संघ की कोशिशें तब तक कामयाब नहीं हो सकेंगी जब तक कि बड़े-बड़े राष्ट्र सचाई और जिम्मेदारी के साथ एक दूसरे के साथ सहयोग नहीं करेंगे। इतने पर भी संयुक्त राष्ट्र संघ जीवित है और जीवित रहकर उसने यह साबित कर दिया है कि जो कुछ भी उसमें शक्ति अवशिष्ट है वह आधारित है उसी शील एवम् सदाचार-सम्बन्धी सैद्धान्तिक एकात्मता की भावना पर, जिस पर एक समुदाय का आधार होता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रत्येक विजय और सफलता का मुख्य कारण है विश्व-व्यापी जनमत की सामूहिक नैतिक शक्ति। इसी विश्व-व्यापी जनमत की शक्ति के सम्मुख १९४६ में ईरान को रूस के भय से मुक्ति मिली थी। यूनान की स्वाधीनता को बनाये रखने में भी इसी (जनमत) ने महत्वपूर्ण भाग लिया था। कोरिया, इण्डोनेशिया और इजराइल की स्वतन्त्रता में भी इसी (जनमत) का मुख्य हाथ रहा है।

अपनी शक्ति की इन सभी कठिन परीक्षाओं में संयुक्त राष्ट्र संघ को अमेरिका की पूरी-पूरी सहायता निरन्तर मिलती रही है। उसे हमेशा ही अमेरिका के जनमत का ठोस नैतिक समर्थन प्राप्त रहा है।

फिर भी संयुक्त राष्ट्र संघ को जो भी व्यापक और ठोस समर्थन प्राप्त हुआ है, अमेरिकी सहायता उसका केवल एक अंग है। सच तो यह है कि प्रत्येक स्पष्ट प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्र संघ को सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व का ठोस जनमत प्राप्त रहा है। रूसी प्रचार विभाग इसके लिए यह दलील देता है कि सारी पूँजीवादी शक्तियों ने साम्यवादी 'प्रजातन्त्र' के विरुद्ध एक मोर्चा बना लिया है, किन्तु वास्तव में सचाई तो यह है कि संसार के सभी स्वतन्त्र राष्ट्र आक्रमण के घोर विरोध में संगठित हुए हैं। वे आतंक और बल-प्रयोग के सख्त ख़िलाफ़ हैं। 'शक्ति' के पुराने खेलों की वे पुनरावृत्ति नहीं चाहते।

जून १९५० में दक्षिण कोरिया पर किये गए आक्रमण के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रों में जो प्रतिक्रिया हुई, उससे 'नैतिक एकात्मता' की भावना को एक नये प्रकार का बल मिला। साम्यवादी आक्रमण के चौबीस घण्टे के भीतर ही सुरक्षा परिषद् ने उत्तरी कोरिया वालों को लड़ाई बन्द करने और अपनी सेनाएँ पीछे हटा लेने का आदेश दे दिया।

तीन दिन के अन्दर सुरक्षा परिषद् ने संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों से आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए दक्षिण कोरिया की मदद करने की सिफारिश की।

साम्यवादी हमले के एक पक्ष के भीतर ही संघ के ४७ सदस्य राष्ट्रों ने और दो ग़ैर-सदस्य राष्ट्रों ने आक्रमणकारी के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यवाही का पूर्ण समर्थन करने की घोषणा की। उसी अवधि में सात राष्ट्रों ने सैनिक सहायता भी देना स्वीकार किया जिससे कि कोरिया में लड़ने वाली सेनाओं को संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना घोषित करके संघ के झंडे के नीचे संगठित किया जा सके।

दो महीने के भीतर ३० राष्ट्रों ने ठोस सहायता देना स्वीकार कर लिया। कुछ मामलों में सहायता के ये प्रस्ताव बहुत कठिन और साहसपूर्ण निर्णय के प्रतीक थे। इसका मतलब यह था कि रूसी आतंक की छाया में रहने वाले छोटे-छोटे राष्ट्रों ने संगठित होकर आक्रमण का सामना करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था और ये दुनिया में पाशविक राज्य की जगह कानून और व्यवस्था का साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे।

इन सारे अनुभवों के आधार पर ही और इनके अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के पहलुओं को ध्यान में रखते हुए अमेरिका निरन्तर इसी दीर्घ-कालीन आशा को लेकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहा है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा ही संसार में शान्ति और सुरक्षा स्थापित हो सकती है।

हमारी सारी आशाएं संयुक्त राष्ट्र संघ में केवल इसलिए केन्द्रित नहीं हैं कि संघ की सामाजिक एवम् आर्थिक क्षेत्रों में कार्य करने वाली संस्थाएं

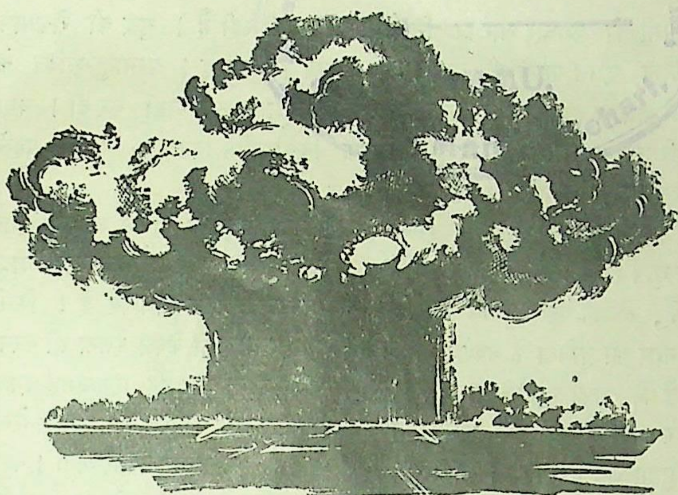
अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य आगे बढ़कर कर रही हैं, न इसलिए कि संघ से सम्बन्धित कुछ संस्थाएं जैसे विश्व स्वास्थ्य संघटन तथा खाद्य-कृषि संघटन मानवोपयोगी महान कार्यों में संलग्न हैं और इसलिए भी नहीं कि मानवीय अधिकारों के संरक्षण में हमारी दिलचस्पी है और हम प्रतिबन्ध रहित सूचना के पक्षपाती हैं। अमेरिका तो इन सभी बातों के लिए राष्ट्र संघ का समर्थक है ही, किन्तु वह इसलिए भी उसका समर्थक है कि वह संघ के द्वारा व्यावहारिक रूप से 'सुरक्षा' का क़ायल है।

हम यह अनुभव करते हैं कि हमारी सुरक्षा और भी बहुत सी बातों पर निर्भर है। वह कानून और व्यवस्था के पक्ष में सहायता करने वाली उच्च कोटि की सैनिक और आर्थिक शक्ति पर निर्भर है; वह शक्तिशाली और स्वतंत्र मित्र राष्ट्रों पर निर्भर है और अन्त में वह दुनिया-भर के सभी अच्छे लोगों की सद्भावना, सम्मान, विश्वास और नैतिक समर्थन पर निर्भर है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अलावा हमें संसार के जनमत को इन सब समस्याओं से अवगत करने और शान्ति की रक्षा के लिए उन्हें प्रोत्साहित और संगठित करने का और कोई दूसरा मार्ग नहीं दिखाई देता। यही कारण है कि हमें अपनी सुरक्षा के निमित्त संयुक्त राष्ट्र संघ की इतनी आवश्यकता है; उतनी ही जितनी कि उसे अपनी भरी-पूरी उन्नति के लिए हमारी।

परमाणु समस्या

संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र पर २६ जून, १९४५ को हस्ताक्षर किये गए थे। इस बात को अभी मुश्किल से छः सप्ताह भी नहीं हुए थे कि एक ऐसी घटना हुई जिसके कारण आतर्राष्ट्रीय सहयोग की नई रूपरेखा निर्धारित करने की नितान्त आवश्यकता अनुभव की गई। यह एक ऐसी आवश्यकता थी, जिसकी घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने वालों ने कल्पना तक नहीं की थी और न वे इसकी कल्पना कर ही सकते थे।



यह घटना थी हिरोशिमा में अणुबम का विस्फोट। उस समय इस घटना का पूरा एवम् वास्तविक अर्थ नहीं समझा गया था और अब भी सभी जगह उसका ठीक-ठीक महत्व अनुभव नहीं किया गया है।

यह बम सामूहिक विनाश और विध्वंस का पहला अथवा आखिरी हथियार नहीं था। इस कारण पुरोगामी अन्तर्राष्ट्रीय समाज के जीवन-संबंधी आधारभूत तथ्यों में कोई परिवर्तन नहीं आया; इसके कारण युद्ध की सम्भावना भी अधिक या कम नहीं हुई, किन्तु इसके कारण युद्ध का प्रभाव अधिक भयंकर प्रतीत अवश्य होने लगा। इसलिए जिन लोगों ने इस बम के महत्व पर अधिक गम्भीरता और शान्ति से सोच-विचार किया, वे इन दो सीधे-सादे परिणामों पर पहुँचे—युद्ध की रोकथाम की जाय और परमाणु बम को निषिद्ध ठहराने का कोई क्रियात्मक और प्रभावशाली उपाय ढूंढा जाय तथा केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए परमाणु शक्ति को उन्नत किया जाय।

१९४५ की इस घटना के बाद से अमेरिका की नीति इन्हीं दोनों परि-

णामों को आधार मानकर निर्धारित की जाती रही है। युद्ध की रोकथाम करना इससे पहले ही हमारा प्रधान उद्देश्य रहा है। परमाणु-शक्ति के उपयोग ने हमारे सामने एक नई और पेचीदा समस्या खड़ी कर दी। क्या थी उस समस्या की रूप-रेखा, यह एक विचारणीय विषय है; अतएव पहले इस पर ही विचार कर लिया जाय।

परमाणु-शक्ति और इसके विनाशकारी तत्त्वों से हमने जो हथियार बनाये हैं, उसके वैज्ञानिक ब्योरे (टेक्निकल बातें) निःसन्देह बड़े पेचीदा हैं, लेकिन परमाणु बम का सिद्धान्त बड़ा सरल और साधारण है। किसी नगर को दुनिया के नक्शे से मिटा देने के लिए आपको केवल इतना ही करना है कि काफी प्लुटोनियम अथवा दुर्लभ यूरेनियम का एक ढेर एक जगह एकत्र कर दिया जाय; इससे अधिक आपको और कुछ नहीं करना है। यह काम ऐसा हुआ जैसे एक विशेष आकार-प्रकार के धातु का ढेर का एकत्र कर लेना। कोई भी व्यक्ति यह काम आसानी से कर सकता है, बशर्ते कि उसे इस सामग्री को एकत्र करने का ढंग आता हो, वह विषैले प्रकाश से अपनी रक्षा करने का तरीका जानता हो और उसे तब तक विस्फोट न होने दे जब तक कि वह उसके लिए तैयार न हो जाय। हाइड्रोजन बम का सिद्धान्त भी काफी आसान है। परन्तु अभी तक यह निश्चित रूप से कोई नहीं कह सकता कि यह तैयार हो भी सकता है या नहीं। आपको सिर्फ बहुत ऊँचा तापमान चाहिए और शायद इतना ऊँचा तापमान केवल यूरेनियम अथवा प्लुटोनियम बम ही पैदा कर सकता है। यही इस समस्या को गंभीर एवम् भयंकर बना देता है कि वास्तव में कोई भी व्यक्ति जिसके पास यह परिष्कृत सामग्री है, परमाणु बम से विस्फोट पैदा कर सकता है। इससे बचाव का इसके अलावा और चारा ही क्या हो सकता है कि इस खतरनाक सामग्री को अनुत्तरदायी लोगों और राष्ट्रों के हाथ में न पड़ने दिया जाय।

हिरोशिमा में इस बम-विस्फोट के बाद एक साल के भीतर अमेरिका ने ठीक इसी उद्देश्य को सामने रखकर योजनाएँ बनाईं और सुझाव पेश किये, अर्थात् इस खतरनाक सामग्री को ग़ैर-ज़िम्मेदार लोगों के हाथ में पड़ने से कैसे

रोका जाय। हमने परमाणु-शक्ति के घरेलू नियंत्रण और उसकी उन्नति क एक नागरिक कमीशन के अधिकार क्षेत्र में सौंपने का निर्णय किया। इस निर्णय को पहली अगस्त, १९४६ को जबकि अमेरिका के प्रेसिडेण्ट ने मैकमेहोन बिल पर हस्ताक्षर कर दिये, कानून का स्वरूप प्राप्त हो गया।

हमने परमाणु-शक्ति के अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण का प्रश्न निष्कपटता के साथ संयुक्त राष्ट्र संघ को सुपुर्द करने का फैसला किया। कैनेडा, चीन, फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन, और रूस ने यह योजना स्वीकार कर ली और जनवरी १९४६ में संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल असेम्बली ने परमाणु-शक्ति कमीशन की स्थापना करके अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर क्रियात्मक रूप से इस शक्ति के निरोध की योजना तैयार करने का उसे आदेश दे दिया।

जून १९४६ तक अमेरिका ने इस प्रकार की योजना के सम्बन्ध में अपने प्रारम्भिक प्रस्ताव तैयार कर लिए और अमेरिका के प्रतिनिधि बर्नार्ड बरुच ने संयुक्त राष्ट्र संघ के परमाणु कमीशन के सम्मुख उन्हें प्रस्तुत भी कर दिया। ये प्रस्ताव उस कमेटी की रिपोर्ट के आधार मर तैयार किये गए थे, जिसे अमेरिका के प्रेसिडेण्ट ने राष्ट्रीय सुरक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की दृष्टि से परमाणु शक्ति के नियंत्रण की समस्या का अध्ययन करने के लिए जनवरी के प्रारंभ में नियुक्त किया था। इस कमेटी की रिपोर्ट, जो एचेसन-लिलिएन्थल कमेटी के नाम से प्रसिद्ध है, निम्नलिखित परिणाम पर पहुँची थी।

"इस शक्ति का प्रभावशाली एवम् क्रियात्मक अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण संभव है;

"अलग-अलग राष्ट्रों की सुरक्षा के संरक्षण की दृष्टि से परमाणु-सम्बन्धी राष्ट्रीय कार्यवाहियों का अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण स्वयम् काफ़ी नहीं है।

"इसलिए एक नई प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को जन्म देने की आवश्यकता है जो इसके तैयार करने वाले सभी कच्चे माल पर स्वयम् अपना अधिकार रखेगी और परमाणु-सम्बन्धी उन्नति के क्षेत्र में सभी 'खतरनाक' परीक्षण करेगी। परमाणु उन्नति से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी कार्यवाहियाँ जिनमें कोई खतरा नहीं होगा, राष्ट्रीय संस्थाओं के हाथ में रह सकती हैं,

लेकिन इन राष्ट्रीय संस्थाओं के लिए भी लाइसेंस लेने की आवश्यकता होगी और उनका निरीक्षण भी यही अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ही करती रहेगी।

"अमेरिका परमाणु-सम्बन्धी हथियारों पर से अपना एकाधिपत्य त्याग देने और इस प्रकार की एक प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति के लिए अपना वैज्ञानिक ज्ञान भी उस संघटन के हवाले करने के लिए तैयार है। जब इस प्रकार के नियंत्रण की एक पर्याप्त व्यवस्था की स्वीकृति मिल जायगी और धीरे-धीरे उस पर अमल होने लगेगा तो हमारा विचार है कि परमाणु बम का उत्पादन भी स्वयम् बन्द हो जायगा, ऐसी दशा में वर्तमान बम समझौते द्वारा नष्ट कर दिये जायँगे, तथा शान्तिपूर्ण और सैनिक दोनों ही प्रकार के उद्देश्यों के लिए परमाणु-शक्ति के उत्पादन से सम्बन्ध रखने वाली सारी जानकारी एक विश्व-व्यापी परमाणु-संस्था के कब्ज़े में हो जायगी।"

संयुक्त राष्ट्र संघ की उस योजना की भी ये मुख्य-मुख्य धारायें हैं जिसकी स्वीकृति जनरल असेम्बली ने १६४८ में भारी बहुमत से दी थी। यह एक सचाई से बनाई गई योजना थी, ज़िसका लक्ष्य परमाणु-शक्ति पर वास्तविक नियंत्रण रखना और सभी राष्ट्रों की सुरक्षा के लिए एक उच्च-कोटि की व्यवस्था करना था। इसके अतिरिक्त अब तक कोई और दूसरा उपाय नहीं ढूंढा जा सका है जिससे वास्तविक नियंत्रण और सुरक्षा दोनों ही समस्याओं की पूर्ति होती हो।

रूस और उसके पिट्ठू राष्ट्रों द्वारा यह योजना अस्वीकार कर दी गई और उनकी ओर से इसका कड़ा विरोध भी हुआ। रूस इस बारे में अपनी ही योजना पर अड़ा हुआ है। उसका प्रस्ताव यह है कि "समझौते द्वारा परमाणु बम निषिद्ध घोषित कर दिया जाय और परमाणु की उन्नति का अधिकार हर राष्ट्र के हाथ में स्वतंत्र छोड़ दिया जाय।" जो नियंत्रण रूस द्वारा इस शक्ति का सुझाया गया है वह अस्पष्ट एवम् निरर्थक है। रूस के इन प्रस्तावों का उद्देश्य स्पष्ट है—सुरक्षा के सम्बन्ध में एक झूठी भावना फैला दी जाय जिसकी आड़ में आक्रान्ता के उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

क्या संयुक्त राष्ट्र संघ की योजना और रूस के प्रस्तावों के बीच कोई

सन्तोषजनक समझौता सम्भव हो सकता है ? यदि सच्चे और प्रभावशाली नियंत्रण के क्षेत्र में इस प्रकार के समझौते की गुंजाइश होती तो कोई भी शान्तिप्रिय राष्ट्र उसे अस्वीकार करने का हौसला न कर सकता था। लेकिन इस मामले में प्रभावशाली नियंत्रण की शर्तों का आधार राष्ट्रीय नीति न होकर परमाणु-शक्ति से सम्बन्ध रखने वाले वैज्ञानिक तथ्य हैं। हम इस वास्तविकता से आँखें नहीं मूंद सकते कि जिस किसी के पास भी कच्चा माल है और शान्तिपूर्ण उपयोग के लिए परमाणु-शक्ति के उत्पादन की व्यवस्था है, वह थोड़े ही प्रयत्न से परमाणु बम भी तैयार कर सकता है और उस हालत में कोई भी बाहरी निरीक्षण उसे इस काम से नहीं रोक सकता।

इसलिए वास्तविक समस्या कोई समझौते वाली योजना ढूंढने की नहीं है। समस्या तो यह है कि रूस की सरकार को यह बात भली भांति किस प्रकार समझाई जाय कि उसकी जनता के उच्चतम हितों की रक्षा इसी में है कि वह परमाणु-शक्ति के प्रभावशाली नियंत्रण में सहयोग प्रदान करे और उससे प्राप्त होने वाले शान्तिदायक लाभों में हिस्सा बंटाये।

रूस ने जान-बूझकर इस समस्या के बारे में भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया है। उसने प्रचार तथा मायावी और झूठे 'शान्ति' आन्दोलन के द्वारा प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण का प्रस्ताव ठुकराने के दुःसाहस को छिपाने और दुनिया के अधिकांश शान्तिप्रिय लोगों को यह विश्वास दिलाने का प्रयास किया है कि किसी भी अवस्था में परमाणु-शस्त्रों का प्रयोग एक अपराध है।

अमेरिका निवासी भी निःसन्देह परमाणु सम्बन्धी अथवा किसी भी अन्य प्रकार के हथियारों का प्रयोग करने के विरुद्ध हैं। परन्तु रूस का प्रचार उनकी आँखों में धूल नहीं झोंक सकता। वे यह जानते हैं कि वास्तविक अपराध आक्रमण है, असली अपराधी वह राष्ट्र है जो युद्ध करता है अथवा दूसरों को डरा-धमकाकर अथवा घृणा और भय का प्रचार करके युद्ध की ज्वाला को भड़काता है।

चूंकि रूसी प्रचार आन्दोलन निरन्तर बड़ी संख्या में शान्तिप्रिय लोगों

की आशाओं और भय की भावनाओं से खिलवाड़ कर रहा है, इसलिए इस सम्बन्ध में अमेरिका की स्थिति को साफ-साफ शब्दों में व्यक्त करने और बार-बार स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि परमाणु-शक्ति का प्रभावशाली तथा सच्चा नियंत्रण ही न केवल हमारे लिए बल्कि सभी राष्ट्रों के लिए शान्ति और सुरक्षा की एकमात्र आशा है, और हम इसी उद्देश्य की प्राप्ति में इसी समस्या के हल के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहेंगे।

यह हमारा विश्वास है कि जब तक शान्ति की स्थापना की कोई समुचित और सुरक्षित व्यवस्था नहीं हो जाती तब तक स्वतंत्र संसार को आत्मरक्षा के निमित्त भली भाँति सुसज्जित और सशस्त्र रहना चाहिए। परमाणु-अस्त्र भी इसी आत्मरक्षा का एक साधन है और हम बराबर इस दिशा में उन्नति करते रहेंगे। परन्तु हमें इस बम का महत्व आशा से अधिक आँकने की ग़लती नहीं करनी चाहिए। जनरल ओमर ब्रैडले ने उसका सही अनुमान लगाते हुए कहा था—"परमाणु बमों के एकत्र करने और उनके प्रयोग करने की हमारी योग्यता शत्रु पर प्रत्याक्रमण करने की तात्कालिक समस्या का हल अवश्य है, किन्तु यह हल अधूरा और अनिर्णायक है।"

स्वतंत्र संसार को प्रत्याक्रमण के इस अनिर्णायक प्रहार से वंचित रखना भी अत्यधिक विवेकहीनता होगी, क्योंकि उस हालत में आक्रान्ता उससे पूरा-पूरा लाभ उठाने की चेष्टा करेगा।

तात्कालिक समस्या

१९४५ में युद्ध समाप्त हो जाने पर भी विजेता समुदाय के लिए, जिसे अब संयुक्त राष्ट्र संघ के नाम से पुकारा जा सकता है, शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था न हो सकी। युद्धकाल में रूस और उसके सहयोगी मित्रराष्ट्रों के ऊपर युद्धकालीन सहयोग की जो भीनी चादर फैली हुई थी उसे छिन्न-भिन्न होते देर नहीं लगी।

अमेरिका के लोगों पर अब यह बात धीरे-धीरे खुलने लगी कि रूस ने संसार को साम्यवादी बनाने और उस पर अपना आधिपत्य जमाने का अपना प्रारम्भिक उद्देश्य अब तक नहीं छोड़ा है और इससे उनको भारी धक्का लगा। युद्ध के दिनों में हमारे सामने रूस वालों का जो चित्र था उसमें वे साहसी और आकर्षक मालूम पड़ते थे, जो बाहरी दुनिया को जानने के इच्छुक थे और हमारे साथ कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर चलना चाहते थे। वह जहाँ तक संभव था एक ठीक-ठीक और सही चित्र था, लेकिन फिर भी अपूर्ण था और इसीलिए भ्रमात्मक था। इस भ्रम को स्वयम् रूसी नेताओं ने अपने कार्य-कलापों द्वारा दूर कर दिया—

सबसे पहले रूसी चरित्र का सही रूप रखा उन्होंने हमें यह बताकर कि 'मुक्ति' दिलाने से लाल सेना का अभिप्राय क्या था। पूर्वी यूरोप, आस्ट्रिया, मंचूरिया और उत्तरी कोरिया में जहाँ-कहीं भी लाल सेनाएं गईं, उनके द्वारा 'मुक्ति' दिलाने का परिणाम आतंक और लूट-खसोट ही था। रूसी सेना के साथ-साथ उन इलाकों में रूसी एजेंट भी आये, जिनका प्रधान उद्देश्य रूस द्वारा संचालित पुलिस राज्यों की स्थापना करना और हर प्रकार के विरोधों को खत्म करना था। पुलिस राज्यों की स्थापना के परिणामस्वरूप राजनीतिक और आर्थिक 'सुधारों' का युग आया, और इसने सदा के लिए स्वतंत्र किये गए इन लोगों को पूर्ण रूप से 'मुक्त' करके पूरी तरह से रूस के शिकंजे में जकड़ दिया।

'मुक्ति' का यह दौर १९४५ और १९४६ में बड़े वेग और व्यवस्थित रूप से चलता रहा। बालकन राष्ट्रों की शान्ति-सन्धियाँ कागज़ के पुर्जे बनाकर पैरों-तले रौंद दी गईं और इस प्रकार से उन राष्ट्रों की 'स्वाधीनता का स्वांग' रचा गया। याल्टा के समझौते को भी, जिसमें इन राष्ट्रों को 'अपनी इच्छानुकूल संस्थाएं स्थापित' करने का वायदा किया गया था, कागज़ के पुर्जे बनाकर हवा में उड़ा दिया गया। यही हालत 'पॉट्सडैम समझौते' की हुई, जिसमें जर्मनी के एकीकरण का वचन दिया गया था।

जहाँ-कहीं रूसी सेना नहीं जा सकी, वहाँ कम्युनिस्टों ने स्वतंत्र राष्ट्रों

को रूस के प्रभाव में लाने के लिए और चालें खेलीं। ये चालें नाज़ी ढंग पर चली गईं। इनके अनुसार उन राष्ट्रों को भीतर से खोखला बना देने की कोशिशें की गईं। हाँ, रूस और नाज़ियों की इन चालों में थोड़ा हेर-फेर अवश्य था। हिटलर ने आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया और पोलेंड में रहने वाले जर्मन अल्प-संख्यकों को अपना हथियार बनाया था। रूस ने उन देशों में मास्को के निर्देशन एवम् समर्थन में संयोजित स्थानीय साम्यवादी आन्दोलनों को अपना हथियार बनाया।

लड़ाई के दिनों में साम्यवादी लोग अधिकृत देशों के गुप्त आन्दोलनों में शामिल हुए और कभी-कभी उनका नियंत्रण भी उन्हीं के हाथों में रहा। जब लड़ाई समाप्त हुई तो उनमें से जो व्यक्ति जीवित रह गए वे भली भांति सशस्त्र थे और गुरिल्ला युद्ध में प्रवीण हो चुके थे। ज्यों ही उन देशों में नई सरकारें स्थापित हुईं, साम्यवादियों ने उनमें कम-से-कम अपना पांव जमाने की कोशिश अवश्य की—विशेषकर सैनिक और पुलिस विभागों में। वे सेनाओं और पुलिस में भरती हुए; वे मजदूर यूनियनों में घुस गए और वहाँ पहुँचकर उन्होंने हड़तालों का संगठन किया; उन्होंने अखबार निकाले, रेडियो-स्टेशनों का संचालन किया, और इन संस्थाओं के द्वारा अपना धुँआ-धार प्रचार किया। ऐसा प्रतीत होता था कि उनके पास धन की कमी न थी।

युद्ध के परिणामस्वरूप यूरोप और एशिया के बहुत-से भागों में ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं, जो साम्यवादी प्रचार एवम् संगठन के लिए आदर्श और सर्वथा अनुकूल थीं।

इन देशों में लाखों लोग भूखे, बेघर और बेरोज़गार थे। परिवार छिन्न-भिन्न होकर अस्त-व्यस्त हो चुके थे, खेत और कारखाने बरबाद हो चुके थे, मशीनें और पशुधन लुटे जा चुके थे। जर्मन और जापानी आक्रान्ताओं और विजेताओं ने अपने पाशविक आक्रमणों से आक्रान्त उन अभागे मनुष्यों के राजनीतिक और आर्थिक जीवन को पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार नष्ट-भ्रष्ट करना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार उन्होंने कम्युनिज़्म के लिए अनुकूल आखेट भूमि तैयार कर दी थी।

स्वतंत्र यूरोप में कम्युनिस्टों ने इटली, फ्रांस और यूनान को अपना प्रधान लक्ष्य बनाया। चेकोस्लोवाकिया पर भी उनकी ओर से निरन्तर दबाव डाला गया। ये सभी देश राजनीतिक संघर्ष के कारण छिन्न-भिन्न हो चुके थे। प्रत्येक की मुख्य समस्या पुनर्निर्माण थी। खाद्य की कमी थी, मँहगाई भयंकरता के साथ बढ़ी हुई थी, और उनकी सरकारों की स्थिति डाँवाडोल थी। इसके अतिरिक्त यूनान में पहले ही घरेलू संघर्ष चल रहा था। कम्युनिस्टों ने इन परिस्थितियों से अनुचित रूप से अधिक-से-अधिक लाभ उठाने के लिए वहाँ अराजकता एवम् विषमता को बढ़ावा देना प्रारंभ कर दिया।

एशिया में भी हलचल मची हुई थी। हालैंड और फ्रांस के उपनिवेश इण्डोनेशिया और इण्डोचीन की बस्तियों में स्वतन्त्रता-आन्दोलन ज़ोर पकड़े हुए था। भारत के स्वायत्त शासन की प्रगति के मार्ग में हिन्दुओं और मुसलमानों के दंगे और रक्तपात के कारण रोड़े अटक रहे थे। चीन में नैशनलिस्ट और साम्यवादी सेनाएं चीन के जीर्ण-शीर्ण और जर्जरित वक्षःस्थल पर खड़े होकर घरेलू युद्ध की तैयारी कर रही थीं। उधर सुदूर पूर्व में क़दम बढ़ाने के लिए रूस उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था, क्योंकि मास्को में शिक्षा पाये हुए लोगों के नेतृत्व में उन देशों के कम्युनिस्ट मार्ग निष्कण्टक करने में तल्लीन थे।

अमेरिका की सुरक्षा के दृष्टिकोण के अनुसार १९४६ और १९४७ तक विश्व-चित्र कोई बहुत आशाप्रद और सन्तोषजनक नहीं था। एक व्यापक पैमाने पर आयोजित और संगठित सहायता कार्यक्रम के बावजूद भी युद्धोत्तर-कालीन पुनर्निर्माण कार्य में सन्तोषजनक प्रगति नहीं हो रही थी। जैसी कि हमारी आशा थी, संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के संरक्षक के रूप में कोई उल्लेखनीय उन्नति नहीं कर रहा था, बल्कि वह तो अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों और जोरदार झगड़ों का अखाड़ा बन रहा था। विभिन्न राष्ट्र एकमत होकर नहीं चल रहे थे; ऐसा प्रतीत होता था कि उनमें फूट और आपसी कलह की लहर के दौड़ने के कारण संगठन छिन्न-विच्छिन्न हो जायगा।

अब समस्या यह थी कि इस प्रवृत्ति की रोक-थाम और उसकी धारा

का रुख बदलने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के अन्तर्गत क्या किया जा सकता था ? जब जनवरी १९४७ में जार्ज सी० मार्शल ने अमेरिका के विदेश विभाग का अध्यक्ष-पद संभाला तो अमेरिका की नीति के लिए उत्तरदायी व्यक्ति इसी समस्या के सुलझाने में अपना ध्यान लगाये हुए थे। इसके बाद थोड़े ही सप्ताह के भीतर अमेरिका के सम्मुख एक अवसर आया और उसने सुरक्षा और शान्ति के लिए क़दम उठाया।

ट्रूमैन सिद्धान्त

जब यूनान को नाजियों के पंजे से मुक्त हुए और स्वतन्त्रता प्राप्त किये दो वर्ष बीत चुके थे, तब १९४६ के दिसम्बर में यूनान की जनता को पुनः अपनी स्वतन्त्रता खो बैठने का भय पैदा हो गया। इस बार यह खतरा उन्हें कम्युनिस्टों के नेतृत्व में लड़ने वाले उन १३,००० गुरिल्ला सैनिकों से पैदा हुआ जिन्हें यूनान के उत्तरी कम्युनिस्ट पड़ोसियों—यूगोस्लाविया, बलगारिया, और अल्बानिया—से शस्त्रास्त्रों के साथ-ही-साथ पूर्ण संरक्षण भी मिल रहा था। इनमें से अधिकांश गुरिल्ले यूनानी थे, लेकिन वे लोग बाहर से प्राप्त ठोस और पर्याप्त सक्रिय सहायता के बिना दो वर्ष तक उस घरेलू युद्ध को जारी नहीं रख सकते थे।

दिसम्बर १९४६ में यूनान की सरकार ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् में अपने इन पड़ोसियों के विरुद्ध यूनान की अखंडता को भंग करने की शिकायत की और सुरक्षा परिषद् ने तुरन्त वहाँ एक कमीशन इसलिए भेजा कि वह यूनान में जाकर इस बात का पता लगाये कि उसकी उत्तरी सीमाओं पर क्या कार्यवाही की जा रही है।

जनवरी १९४७ में अमेरिका ने यूनान में वहां की आर्थिक दशा का पता लगाने के लिए कुछ लोगों को भेजा ताकि वे यह भी पता लगा सकें कि उस देश को तबाही से बचाने के लिए क्या किया जा सकता था। फ़रवरी और मार्च में वहां संकटपूर्ण परिस्थिति पैदा हो गई।

ब्रिटिश सरकार ने फैसला किया कि वह यूनान की अब और अधिक

मदद करने में असमर्थ है। हमें बताया गया कि ब्रिटेन को यूनान से अपनी वे सेनाएं हटा लेनी पड़ेंगी जो यूनान के स्वतन्त्र हो जाने के बाद स्वयम् यूनान सरकार के आग्रह पर वहां ठहर गई थीं। संयुक्त राष्ट्र संघ की 'संयुक्त राष्ट्र सहायता और पुनर्वास-संस्था' ३१ मार्च को वहां से अपना केन्द्र हटा लेने वाली थी। ३ मार्च को यूनान की सरकार ने हमारे पास आर्थिक और सैनिक सहायता के लिए एक अत्यावश्यक अपील भेजी।

इस बीच यह भी स्पष्ट हो गया कि तुर्की रूस की उस सूची में आ चुका था, जो उसने अपने प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाने वाले राष्ट्रों के लिए बनाई थी। इस दिशा में रूस की कार्य-विधि यह थी कि वह पहले तो ऐसे राष्ट्रों को फुसलाकर नरमी से दबाता था और बाद में उन पर अपना कब्ज़ा कर लेता था। चुनाचे १९४५ में रूसी सरकार ने यह घोषणा की कि वह तुर्की के साथ अपनी २० वर्ष पुरानी मित्रता की संधि को पुनः जीवन-दान नहीं देना चाहता।

इसके बाद रूस ने यह मांग पेश की कि उसे भी तुर्की के साथ-साथ दर्रा-दानियाल के नियंत्रण और बचाव में हिस्सा मिलना चाहिए, जोकि सदा-सदा से रूस की एक पुरानी महत्वाकांक्षा रही है। इसका अर्थ यह होता था कि १९३६ की उस संधि में संशोधन किया जाय, जिस पर रूस ने संसार के आठ अन्य राष्ट्रों के साथ मिलकर हस्ताक्षर किये थे। रूस ने साफ तौर पर यह कहा कि वह अकेले तुर्की के साथ ही इसका फैसला करना चाहता है।

तीसरे, रूस ने पूर्वी तुर्की के दो बड़े प्रान्तों पर अपना अधिकार रखने के सम्बन्ध में अपना पुराना दावा दोहराया। अन्त में रूस ने तुर्की की सरकार को 'फ़ासिस्ट' और 'प्रतिक्रियावादी' सरकार होने का आरोप लगाकर तुर्क लोगों को विद्रोह करने को उकसाना आरम्भ किया।

रूस के इस दबाव का तुर्की पर दो तरह से असर पड़ा। एक तो वहां की जनता का रुख रूस के प्रति और अधिक कड़ा हो गया और वह उसका प्रतिरोध करने के लिए संगठित हो गई। दूसरे, तुर्की की सरकार को सैनिक

तैयारी पर सामर्थ्य से अधिक खर्च करना पड़ा, जोकि उसकी गरीब जनता के लिए कठिन था। तुर्की ने अमेरिका से ऋण लेने के लिए कई बार आवश्यक प्रार्थनाएं की थीं, किन्तु दुर्भाग्यवश तब तक उसकी एक भी प्रार्थना स्वीकार नहीं हो पाई थी।

यदि अमेरिका ने संकट के समय केवल यूनान की मदद की होती और तुर्की की दुर्दशा की अवहेलना की होती तो शायद रूस इसके ये माने लेता कि हम तुर्की की जनता की शाश्वत स्वतन्त्रता में दिलचस्पी नहीं रखते। यह हमारा एक ग़लत और खतरनाक निर्णय होता।

१२ मार्च १६४७ को ऐसी परिस्थिति थी जबकि प्रेसिडेण्ट ट्रुमैन ने कांग्रेस के संयुक्त अधिवेशन के सम्मुख अपनी उस नोति की घोषणा की जिसे 'ट्रुमैन-सिद्धान्त' (Truman Doctrine) के नाम से पुकारा जाता है।

ट्रुमैन सिद्धान्त के अन्तर्गत यूनान और तुर्की को तत्काल सैनिक और आर्थिक सहायता भेजने का प्रस्ताव किया गया था। परन्तु इसका वास्तविक महत्व उससे भी कहीं अधिक था। यह संसार के उन स्वतंत्र लोगों मदद देने की अमेरिकन नीति थी, 'जो सशस्त्र अल्पसंख्यकों अथवा बाहरी दबाव के विरुद्ध गुलामी से बचने के लिए कोशिश करते रहे हैं।'

यह कदम स्वतंत्र राष्ट्रों को उनकी क्रमगत हत्या से बचाने का मानो एक दृढ़ निश्चय था और प्रेसिडेण्ट के शब्दों में यह निर्णय इस तथ्य की स्पष्ट स्वीकृति पर आधारित था कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष आक्रमण द्वारा स्वतंत्र राष्ट्रों पर लादे गए तानाशाही शासन अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की जड़ें खोखली कर देते हैं और इसीलिए अमेरिका की सुरक्षा की नींव भी हिल जाती है।

प्रेसिडेण्ट के इस प्रस्ताव से और बहुत-से प्रश्न उठ खड़े हुए। क्या इसका यह अर्थ था कि हम ऐसे प्रत्येक राष्ट्र की मदद करने को तैयार हो जायंगे जिसे साम्यवादियों ने अपने आक्रमण का शिकार बनाना चाहा हो? इसका जवाब यह था कि हम प्रत्येक परिस्थिति का निर्णय यह देखते हुए

करेंगे कि उसका विश्व-शान्ति के साथ-साथ हमारी सुरक्षा पर क्या प्रभाव पड़ता है।

कल्पना कीजिए कि यूनान की जनता अपने देश में कम्युनिस्ट सरकार चाहती है। क्या हमें उसमें हस्तक्षेप करने अथवा दखल देने का कोई अधिकार है? यूनान में इससे एक साल पहले चुनाव हुआ था। एक मित्र राष्ट्रीय मिशन ने वहाँ जाकर स्वयं इस चुनाव का प्रेक्षण किया था और उसका कहना था कि चुनाव न्यायपूर्ण और स्वतंत्र था और उसका परिणाम मतदाताओं के बहुमत की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता था।

परन्तु क्या हम एक कमज़ोर और प्रतिक्रियावादी सरकार को सहारा देकर खड़ा नहीं कर रहे थे और इस प्रकार हम अपने को ज्यों-की-त्यों स्थिति बनाए रखने के इच्छुक और पोषक प्रमाणित नहीं कर रहे थे? हमें यूनान की तत्कालीन सरकार की ओर से जिसे कि हम स्वयम् स्वीकार करते थे कि किसी दृष्टि से पूर्ण नहीं है, पैरवी करने के अधिकार प्राप्त नहीं थे। प्रेसिडेण्ट ने कहा था कि "स्थिति को ज्यों-की-ज्यों बनाये रखना कोई पवित्र कार्य नहीं है, परन्तु हम दबाव, धमकी, बल-प्रयोग अथवा राजनीतिक प्रवेश जैसे छल-कपटों के साधनों से 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' के घोषणा-पत्र को भंग करके 'ज्यों-की-त्यों स्थिति' में कोई परिवर्तन करने की इजाज़त नहीं दे सकते। स्वाधीन राष्ट्रों को अपनी स्वतंत्रता बनाये रखने में मदद देकर अमेरिका केवल संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने का प्रमाण देगा।"

आगे चलकर प्रेसिडेण्ट ने कहा—"इसके अतिरिक्त यदि एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में यूनान का अस्तित्व ही मिट गया तो उसका यूरोप के उन देशों की जनता पर बहुत भारी प्रभाव पड़ेगा जो इस समय युद्ध से हुई हानि को पूरा करने के साथ-साथ बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ होते हुए भी अपनी स्वतंत्रता और स्वाधीनता की रक्षा के लिए जी-जान से संघर्ष कर रही हैं।"

ऐसी दशा में प्रश्न यह उठता था कि सारा मामला संयुक्त राष्ट्र संघ को ही क्यों न सौंप दिया जाय, क्योंकि घोषणा-पत्र की मान-प्रतिष्ठा क़ायम रखने

के लिए संघ की भी कम-से-कम उतनी ही गहरी दिलचस्पी थी जितनी कि हमारी और इसके अलावा राष्ट्र संघ के संगठित साधन हमसे कहीं भी अधिक थे। ट्रुमैन ने कहा कि "हमने इस बात पर खूब सोच-विचार कर लिया है कि इस संकट में संयुक्त राष्ट्र संघ किस तरीके से मदद कर सकता है। परन्तु स्थिति इतनी नाजुक है कि इस सम्बन्ध में तुरन्त ही कार्यवाही की जानी चाहिए और संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उससे सम्बद्ध संस्थाएं इस स्थिति में नहीं हैं कि वे आवश्यक सहायता कर सकें।"

यह सब-कुछ सत्य था। संयुक्त राष्ट्र संघ अपने सदस्यों की स्वतंत्रता की रक्षा करने में अपनी अशक्तता का परिचय दे चुका था। वह तो केवल इतना ही कर सकता था कि सारे मामले की छानबीन करे, उस पर सोच-विचार करे और संसार के स्वतन्त्र राष्ट्रों की आवाज़ को उसके विरोध में बुलन्द करे। फिर भी यूनान और तुर्की की मदद करते समय हमने यह बात साफ तौर पर कह दी थी कि ज्यों ही संयुक्त राष्ट्र संघ इस जिम्मेदारी को अपने कन्धों पर उठाने के लिए तैयार हो जायगा हम इस बड़े उत्तरदायित्व से अलग हो जायंगे।

मई १९४७ में अमेरिकन कांग्रेस ने यूनान और तुर्की को सहायता देने की स्वीकृति दे दी और इस कार्यक्रम पर तुरन्त ही अमल होने लगा। परन्तु इससे भी पहले अमेरिकन जनता को यह बताना आवश्यक था कि उसे किस प्रकार की समस्या का सामना करना था। उसे केवल उसका आभास मात्र होना ही पर्याप्त नहीं था। यूनान में अमेरिका ने जो आर्थिक कमीशन भेजा था, उसकी रिपोर्ट अप्रैल में प्रकाशित हो चुकी थी, जिसकी मुख्य-मुख्य बातें नीचे दी जाती हैं—

"स्वतंत्र होने के बाद से दो वर्षों में यूनान को यद्यपि विदेशों से ७० करोड़ डॉलर से भी अधिक की सहायता मिल चुकी थी, फिर भी वह कठिनाई के साथ साँसें ले रहा था। साधारण आर्थिक परिस्थितियाँ उस समय की तुलना में किसी प्रकार से भी अच्छी नहीं थीं, जबकि नाजियों को वहाँ से

खदेड़ा गया था। कहने का तात्पर्य यह कि यूनानी जीवन की अवस्था अत्यधिक शोचनीय थी।

"दो बरस की अवधि में देश की सरकार सात बार बदल चुकी थी, जिसके कारण कोई युक्तियुक्त और विवेकपूर्ण योजना का निर्माण संभव नहीं था। जनता को आत्मरक्षा की अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं रह गया था और वह दयनीय 'निश्चेष्टता और गतिहीनता' का शिकार हो चुकी थी। देश में केवल थोड़े-से मुनाफ़ाखोर, सट्टई और चोरबाजार से पैसा कमाने वाले दोनों हाथों पैसा पैदा कर रहे थे और ऐश्वर्य व भोग-विलास के जीवन में व्यस्त थे। जनता जीवन-निर्वाह के न्यूनतम स्तर तक के लिए तरस गई थी और क्षोभ वातावरण में छाया हुआ था। तात्कालिक विदेशी सहायता और कड़े सरकारी नियंत्रणों के बिना 'मुद्रा-स्फीति' (सिक्के का फैलाव) के एक और प्रत्याशित जोरदार वेग को रोकना संभव नहीं था।" अमेरिकन मिशन का अनुमान था कि यूनान को फिर से अपने पैरों पर खड़ा होने में अभी लगभग पांच वर्ष और लग जायंगे।

१९५० के बसन्त में ट्रुमैन सिद्धान्त की तीसरी वर्षगांठ के अवसर पर अमेरिकन जनता के सम्मुख अब दूसरा ही चित्र उपस्थित था। इस चित्र में और उससे पहले के चित्र में जमीन-आसमान का अन्तर था। गुरिल्लों को बुरी तरह परास्त किया जा चुका था और अब यूनान में उनका नाम-निशान भी बाकी नहीं था। देश में चारों ओर शान्ति का साम्राज्य था और देश धीरे-धीरे पूर्वावस्था को प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर हो रहा था। युद्ध-कालीन प्रायः सभी ७ लाख शरणार्थी और बेघर लोग अपने घरों को वापस जा चुके थे। देश में गाड़ियों का आना-जाना शुरू हो गया था, सड़कों पर फिर से चहल-पहल दिखाई देने लगी थी और पुलों की मरम्मत की जा चुकी थी। चालीस हजार नये मकान बन गए थे। कृषि-उत्पादन युद्ध से पूर्व के स्तर से भी अधिक होने लगा था और हजारों एकड़ नई भूमि में खेतीबाड़ी की जा रही थी। मलेरिया से ग्रस्त लोगों की संख्या जो पहले दस लाख प्रति-

वर्ष से भी अधिक ऊँची पहुँचा करती थी, अब घटकर ५०००० प्रतिवर्ष ही रह गई थी।

तीन वर्ष की सैनिक सहायता की अवधि में तुर्की की स्थिति भी आगे की अपेक्षा कहीं अधिक सुदृढ़ हो गई थी। आधुनिक ढंग की युद्ध-सामग्री और ट्रेनिंग प्राप्त हो जाने के बाद लड़ाकू सेनाओं की दृष्टि से तुर्की का सैनिक संगठन पहले की अपेक्षा कहीं अधिक दक्ष, कुशल और प्रभावशाली बन गया था। और इसके परिणामस्वरूप संशस्त्र सेनाओं की संख्या में भी काफ़ी कमी संभव हो चली थी।

१९५० में यूनान और तुर्की के लोगों ने देश में स्वतंत्र चुनाव करके नई सरकारें स्थापित कीं। तुर्की के चुनाव की एक विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह थी कि लोगों ने पिछले २७ साल से देश पर शासन करने वाले एक ही दल की राजनीतिक पद्धति को समाप्त कर दिया।

पहले तीन वर्षों में सहायता के इस कार्यक्रम पर हमें क्या खर्च करना पड़ा? यूनान और तुर्की को दी गई इस नागरिक और सैनिक सहायता पर हमें कुल मिलाकर लगभग ९ अरब रुपये खर्च करने पड़े जोकि १९५० में अमेरिका की राष्ट्रीय आय के लगभग एक प्रतिशत से भी कम बैठता है। इससे ही अमेरिका के लोग इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से ट्रूमैन सिद्धान्त को अच्छी सफलता मिली या नहीं।

रायो समझौता

यूनान और तुर्की को सहायता देने का निर्णय करते समय अमेरिका को शान्ति के लिए पैदा हुए खतरे का मुकाबला करने के लिए तुरन्त ही एक और कार्यवाही करनी पड़ी और वह भी अकेले-अकेले ही। हमारी कार्यवाही प्रभावशाली साबित हुई, लेकिन हम भली भाँति जानते थे कि यह क़दम न तो सामूहिक कार्यवाही का संतोषजनक हल था और न ही शान्ति के लिए उत्पन्न होने वाले खतरों की समस्या का अन्तिम समाधान था।

जबकि यूनान व तुर्किस्तान को सहायता देने की व्यवस्था चल ही रही थी, हमने कोई अच्छा उपाय खोज निकालने का प्रयास भी जारी रखा; ऐसा उपाय जिससे यूनान व तुर्की जैसी परिस्थिति के उत्पन्न हो जाने पर हम उसका मुकाबला सामूहिक रूप से कर सकें।

संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र में इस समस्या का एक समाधान यह बताया गया था कि स्थानीय झगड़ों का निबटारा सुरक्षा परिषद् की साधारण अधिकार सीमा के अन्तर्गत 'प्रादेशिक व्यवस्था' के रूप में किया जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका के लोकतन्त्रात्मक गणराज्यों ने १९४५ में चापलटीपेक ऐक्ट के रूप में इसी प्रकार की प्रादेशिक व्यवस्था का बीजारोपण किया था। १९४७ की गरमियों में उन्होंने इस अन्तर-अमेरिकन पारस्परिक सहायता की उस संधि के अन्तर्गत शामिल कर लिया जो रायो समझौता के नाम से प्रसिद्ध है। यह समझौता एक ऐतिहासिक घटना थी, क्योंकि इसके द्वारा सामूहिक कार्यवाही की नींव रखी गई। इस संधि के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई थी कि यदि किसी भी अमेरिकन राज्य को पश्चिमी गोलार्द्ध के भीतर से अथवा बाहर से खतरा पैदा हो जायगा या उस पर हमला किया जायगा तो सभी राज्य मिलकर सामूहिक कार्यवाही करेंगे।

इसके लगभग दो वर्ष बाद उत्तर अटलांटिक महासागर के राष्ट्रों ने इसी प्रकार की एक साधारण सामूहिक रक्षा योजना के सम्बन्ध में एक समझौता किया। इसी बीच पश्चिमी यूरोप पर रूस का दबाव बढ़ता ही जा रहा था।

उत्तर अटलांटिक सुरक्षा

सितम्बर १९४७ में रूसी गुट ने मार्शल योजना का विरोध करने की घोषणा की और कामिनफार्म की स्थापना की, जिसका प्रधान लक्ष्य यूरोप के पुनर्निर्माण के आन्दोलन पर प्रहार करना था। फरवरी १९४८ में साम्यवादियों ने एक और स्वाधीन राष्ट्र—चेकोस्लोवाकिया—के भी प्राण निकाल लिये। ज्यों ही ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका ने पश्चिमी जर्मनी में प्रजातन्त्रात्मक स्वायत्त शासन का परीक्षण करने का निर्णय किया रूस ने

बर्लिन की नाकेबन्दी करके हमें वहाँ से निकाल देने का प्रयत्न किया। पोट्सडम समझौते के अन्तर्गत जर्मनी के एकीकरण करने की हमारी योजना को रूसी विरोध की चट्टान से टक्कर लेनी पड़ी। इससे पश्चिमी मित्र-राष्ट्र इस नतीजे पर पहुँचे कि इस दिशा में और अधिक विलम्ब होने से पश्चिमी यूरोप के पुनरुद्धार की प्रगति अवगुंठित हो जायगी।

पुनरुद्धार के कार्यक्रम पर इस बढ़ते हुए तनाव और प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष साम्यवादी आक्रमण के बढ़ते हुए भय का प्रभाव पहले से ही दिखाई देने लगा था। यह भय न केवल रूस की कार्यवाही के कारण था बल्कि इस कारण भी था कि सभी व्यावहारिक दृष्टियों से पश्चिमी यूरोप की सैनिक शक्ति नितान्त खोखली हो चुकी थी। जर्मनी ने जिस देश पर भी कब्जा किया था उसे पूर्णरूपेण निःशस्त्र करके छोड़ा था, और अब पश्चिमी राष्ट्रों ने स्वयं जर्मनी को निःशस्त्र कर दिया था।

ज्यों ही पश्चिमी यूरोप की रक्षा की आवश्यकता अनुभव की गई, यह स्पष्ट होने लगा कि इस समस्या के तीन पहलू हैं—

प्रथम, एक सामूहिक सुरक्षा प्रणाली का संगठन किया जाय जिससे कि आक्रान्ता को यह पहले से ही विश्वास हो जाय कि वह अब एक-एक करके मनमाने ढंग से अपना शिकार नहीं चुन सकेगा; उसे यह भी आभास हो जाय कि वह जब चाहे तब किसी राष्ट्र पर हाथ नहीं डाल सकेगा।

दूसरे, पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों की कम-से-कम ऐसी स्थिति बना दी जाय कि वे प्रारम्भिक आक्रमण को रोक सकें।

तीसरे, यूरोप के स्वतंत्र जनसमुदाय में सुरक्षा की इन भावनाओं को भर दिया जाय तथा उनमें निःशंकता तथा निर्भयता के वे भाव अंकुरित कर दिये जायं जो केवल सशस्त्र एवम् सशक्त समुदाय में ही पाए जाते हैं, ताकि पुनर्निर्माण की योजना (Recovery Program) के प्रति उनमें नई आशा पैदा हो सके और उसे कार्यान्वित करने के लिए नव-स्फूर्ति।

अमेरिका निवासियों को यह विश्वास दिलाने की कोई जरूरत नहीं थी कि पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा और स्वयं उनकी सुरक्षा में कितना घनिष्ठ

सम्बन्ध है। प्रश्न तो केवल यह था कि अमेरिका तथा यूरोप के इस संयुक्त हित को किस प्रकार एक प्रभावशाली और क्रियात्मक सामूहिक रक्षा-व्यवस्था का रूप दिया जाय, जिससे कि संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र की अक्षरशः पूर्ति हो सके।

इस दिशा में पहला कदम यूरोप के राष्ट्रों ने ही उठाया जबकि मार्च १९४८ में उन्होंने ब्रसल्स संधि पर हस्ताक्षर किये। इस संधि के अनुसार एक पश्चिमी राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। इस पर पाँच राष्ट्रों (ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, हालैण्ड और लग्ज़म्बर्ग) ने हस्ताक्षर किये। संधि के अन्तर्गत ये राष्ट्र ५० साल तक एक दूसरे की रक्षा करने के लिए वचन बद्ध हुए। चुनाव-संधि पर हस्ताक्षर करने वाले इन राष्ट्रों ने एक संयुक्त कमान के अधीन अपनी सैन्य-शक्ति का संगठन करना शुरू कर दिया। लेकिन इन सेनाओं को सशस्त्र करना एक कठिन समस्या थी, क्योंकि ये पाँचों राष्ट्र पुनर्निर्माण में जुटे हुए थे और अपनी आवश्यक जनशक्ति, धन और सामग्री को उस दिशा से हटाकर पुनःशस्त्रीकरण के काम में नहीं लगा सकते थे।

जिस दिन ब्रसल्स संधि पर हस्ताक्षर हुए उसी दिन प्रेसिडेण्ट ट्रूमैन ने अमेरिका के पुनःशस्त्रीकरण के कार्यक्रम की रूपरेखा पर प्रकाश डालते हुए अमेरिकन कांग्रेस के नाम एक विशेष संदेश भेजा। इस कार्यक्रम में उन्होंने यूरोप के बचाव की बड़ी-बड़ी सभी आवश्यकताओं को सम्मिलित कर लिया था।

प्रेसिडेण्ट ने कहा—"मुझे पक्का विश्वास है कि जिस प्रकार यूरोप के स्वतन्त्र राष्ट्रों ने अपनी रक्षा करने का दृढ़ निश्चय कर रखा है, उसी प्रकार हम भी उन्हें इस काम में यथाशक्ति पूरी सहायता देने का दृढ़ निश्चय करेंगे।" इसके दस महीने बाद उन्होंने अपने उद्घाटन भाषण में इस बात का वचन दिया कि "अमेरिका उन सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों को सैनिक परामर्श और सामग्री देगा जो शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने में हमारा साथ देंगे।" इस प्रकार प्रेसिडेण्ट ने पश्चिमी यूरोप में भी उसी सैनिक सहायक नीति पर अमल करने का फैसला किया जिस पर यूनान, तुर्की और चीन में पहले से ही

अमल हो रहा था।

परन्तु सैनिक सहायता सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था का केवल एक किन्तु अत्यावश्यक तत्त्व है। पारस्परिक हित भी निस्सन्देह एक तत्त्व है और इसी प्रकार एक व्यावहारिक तत्त्व भूगोल भी है। आधुनिक युग की यह खोज है कि अटलांटिक महासागर उत्तरी अमेरिका और यूरोप के महाद्वीपों को एक-दूसरे से अलग नहीं करता, यह उनका संयोजक है। इस प्रकार अटलांटिक महासागर बजाय विभाजक होने के दोनों महाद्वीपों के बीच एक सेतु-सा बन गया है। यह तथ्य और उसके बारे में हमारी जागरूकता एक उत्तर अटलांटिक समुदाय की निरन्तर जोर पकड़ने वाली भावना के लिए उतनी ही उत्तरदायी है जितना कि कोई और कारण।

उत्तर अटलांटिक संधि

सेनेट के एक प्रस्ताव द्वारा उत्तर अटलांटिक रक्षा-योजना के निर्माण का मार्ग साफ हो गया। सेनेट ने जून १९४८ में नीति-विषयक एक वक्तव्य की स्वीकृति भी दी, जो वैंडनबर्ग प्रस्ताव के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रस्ताव के द्वारा सरकार को अधिकार दिया गया कि वह संयुक्त-राष्ट्र-संघ के अधिकार-पत्र के अन्तर्गत सामूहिक रक्षा-योजना की व्यवस्था को उन्नत करे और अमेरिका को वैधानिक उपायों द्वारा इस व्यवस्था में शामिल करे। यह प्रस्ताव प्रायः सर्वसम्मति से अर्थात् ६४ में से केवल ४ के विपक्ष में पास हो गया जो कि उत्तर अटलांटिक में सामूहिक-रक्षा-योजना के कार्य को निर्विघ्न रूप से आगे बढ़ाने का संकेत था।

तुरन्त ही ब्रसल्स संधि वाले राष्ट्रों के साथ बातचीत शुरू हो गई। उन्होंने उत्तर अटलांटिक संधि को जन्म दिया, जो मार्च १९४९ में प्रकाशित हुई और आगामी जुलाई में उन्होंने उसे मंजूर भी कर लिया। उन चार महीनों में अमेरिका की जनता और कांग्रेस ने उस संधि से उत्पन्न महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर उसी भांति वादविवाद किया जैसा कि उन्होंने मार्शल योजना और संयुक्त राष्ट्र संघ के विषय में किया था।

मुख्यतः वादविवाद इन तीन प्रश्नों पर रहा—हम कौनसी नई जिम्मेदारियां अपने ऊपर ले रहे थे ? क्या इस संधि को किसी के लिए धमकी समझा जाना तो सम्भव न होगा ? क्या इससे राष्ट्र संघ की अवहेलना की चेष्टा तो नहीं होती ?

पहले सवाल का जवाब यही था कि हम अपने ऊपर कोई नई ज़िम्मेदारी नहीं ले रहे थे। संधि के द्वारा हम केवल अपनी उन ज़िम्मेदारियों को बिलकुल स्पष्ट कर रहे थे, जिन्हें वस्तुतः हमने पहले से ले रखा था और जिन्हे हमें पूरा करना था। हमारी मुख्य ज़िम्मेदारी का उल्लेख संधि की ५ वीं धारा में था, जिसे सेनेट की विदेश-सम्बन्ध-समिति ने 'संधि का हृदय' अथवा केन्द्र-बिन्दु कहा था। उसमें कहा गया था कि इस संधि पर हस्ताक्षर करने वाले देशों में से यदि किसी एक पर भी हमला होगा तो उसे सब के ऊपर किया गया हमला समझा जायगा, और जिस पर हमला होगा उस राष्ट्र की मदद के लिए प्रत्येक देश 'उत्तर अटलांटिक क्षेत्र की सुरक्षा बनाये रहने के लिए ऐसी कार्यवाही करेगा, जिसे वह आवश्यक समझेगा और उसमें सशस्त्र सेना का प्रयोग भी सम्मिलित होगा।'

इस वक्तव्य पर यदि ग़ौर किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इसमें उसी कर्तव्य की ओर संकेत किया गया है, जिसका पालन हमने संधि के अभाव में भी किया होता। इसका यह अर्थ नहीं कि हम लड़ाई में कूदने जा रहे थे, बल्कि इसका मतलब था समयानुसार आवश्यक कार्यवाही करना; और उसमें कांग्रेस द्वारा युद्ध की घोषणा भी वस्तुतः सम्मिलित होती।

इससे पूर्व, आक्रान्ताओं ने सदा ही अमेरिका की धारणाओं का ग़लत अन्दाज़ किया है; हम अब पुनः वैसा नहीं होने देना चाहते। जैसा कि राष्ट्रपति ने कहा था—"यदि हम पहले से ही यह स्पष्ट कर सके कि हम प्रत्येक ऐसे हमले का प्रबलतम शक्ति से सामना करेंगे जिसका हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा पर असर होगा तो सम्भव है ऐसे हमले की नौबत ही न आयगी।"

दूसरा सवाल यह था कि 'यह संधि किसी के लिए धमकी तो नहीं है,' इसका निश्चय उत्तर है 'नहीं'। जिस दिन यह संधि पत्रों में प्रकाशित

हुई, उसी दिन विदेशमंत्री एचेसन ने निम्नलिखित स्पष्ट एवं असंदिग्ध वक्तव्य दिया था—

"............कोई भी व्यक्ति, जिसे प्रजातंत्रीय सरकार की प्रक्रियाओं का थोड़ा भी प्रारम्भिक ज्ञान है, जानता है कि लोकतंत्री राज्य न तो आक्रमणात्मक युद्धों की योजना बनाते हैं और न इन योजनाओं के बनाने की उनमें सामर्थ्य ही होती है। अपने पद की जिम्मेदारी से पूर्णतया परिचित होने के कारण मैं उन लोगों की जानकारी के लिए स्पष्ट एवम् असंदिग्ध वक्तव्य देना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनको इस ज्ञान से वंचित रखा गया है।"

"यह देश किसी के विरुद्ध युद्ध करने की योजना नहीं बना रहा है। इसे युद्ध से घृणा है और वह युद्ध को अनिवार्य भी नहीं समझता।"

"इस देश की नीति इस निश्चित लक्ष्य के आधार पर बनाई गई है कि वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय समाज को जिन भीषण मतभेदों ने आक्रान्त कर डाला है, उस क्षति की पूर्ति शान्तिपूर्ण उपायों से की जाय।"

"इस देश के ऊपर लगाया हुआ यह आरोप कि उसने अटलांटिक समझौते पर जो हस्ताक्षर किये हैं, उसके पीछे उसका वास्तविक उद्देश्य आक्रमण की योजना बनाना है, बिलकुल निराधार, घृणात्मक और झूठा है। इस कुत्सित आरोप का आधार या तो जान-बूझकर फैलाई जाने वाली दुर्भावनापूर्ण ग़लत-बयानी हो सकती है, या अमेरिकन समाज की रूपरेखा से अथवा उसके उद्देश्यों से पूर्णतया अनभिज्ञ होने के कारण उसके प्रति भयंकर एवम् निराधार ग़लत-फ़हमी।"

तीसरा सवाल था कि 'इस संधि का संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ क्या सम्बन्ध होगा'। इसका उत्तर स्वयम् संधि के शब्दों में ही मिल जाता है। संधि की पांचवीं धारा में सब दल यह घोषणा करते हैं कि वे घोषणा-पत्र की ५१ वीं धारा के अन्तर्गत कार्यवाही कर रहे हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अथवा समूह की आत्म-रक्षा के स्वत्व को स्वीकार किया गया है। घोषणा-पत्र के अन्तर्गत वे अपने इस दायित्व को भी स्वीकार करते हैं कि आक्रमण होने की दशा में

वे तुरन्त ही उसकी सूचना सुरक्षा-परिषद् को देंगे और ज्यों ही सुरक्षा-परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा फिर से कायम करने और बनाये रखने के लिए आवश्यक कार्यवाही प्रारंभ कर देगी वे अपनी आत्म-रक्षा के अन्य सारे साधन स्थगित कर देंगे।

संधि तो केवल आपस का एक वायदा होता है। उत्तर अटलांटिकी समुदाय का वास्तविक ढाँचा तो अभी निर्माण की प्रारम्भिक दशा में है। बारह राष्ट्रों के विदेश-मंत्रियों की सदस्यता वाला उत्तर अटलांटिकी परिषद्, उप-विदेश-मंत्रियों की समिति जिसकी बैठकें लगातार होती रहती हैं, और इसी प्रकार की और भी अनेक कमेटियाँ सब मिलकर एक सामूहिक सुरक्षा-प्रणाली की योजना बनाने की दिशा में ठोस कार्यवाही कर रही हैं।

इन समितियों के सामने यह प्रमुख प्रश्न है कि उत्तर अटलांटिक समुदाय को किस प्रकार की रक्षा-व्यवस्था की आवश्यकता है और वे कहाँ तक उसकी पूर्ति कर सकती हैं। 'संघीकरण' और 'एकीकरण' सरीखे शब्दों का प्रयोग इस धारणा को व्यक्त करने के लिए किया गया है कि यदि सदस्य-राष्ट्र अपने-अपने साधनों को सामूहिक रूप से एक स्थान पर सञ्चित कर लें तो उक्त समाज एक दृढ़तर सैनिक और आर्थिक रक्षा-योजना का निर्माण कर सकता है। किन्तु प्रश्न यह है कि यह कार्यान्वित किस प्रकार किया जाय?

मई १९५० में लन्दन में उत्तर अटलांटिक परिषद् की जो बैठक हुई थी, उसमें इस रक्षा-योजना का स्पष्ट चित्र उपस्थित किया गया था। परिषद् ने 'संतुलित सामूहिक सेनाओं' (Balanced Collective Forces) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। परिषद् का कहना था कि "हम ही इस बात का फैसला करेंगे कि हमारा समुदाय क्या चाहता है और प्रत्येक राष्ट्र का कर्तव्य होगा कि वह अपने-अपने विशिष्ट दायित्व की पूर्ति करे। यह पुरानी प्रथा कि प्रत्येक राष्ट्र एक सम्पूर्ण एवं आत्म-निर्भर रक्षा-सेना रखे, समाप्त कर दी जायगी। इसके बजाय हममें से प्रत्येक ऐसे-ऐसे कार्य करने में संलग्न हो जाँयगे, जिनसे सारे समुदाय के हित के साधन जुटाए जा सकें।

अमेरिका और ब्रिटेन सरीखे देश, चूंकि उन्हें उत्तर अटलांटिक क्षेत्र

के बाहर भी अपनी जिम्मेदारियां निभानी हैं, अपनी उन जिम्मेदारियों को पूरा करने की निरन्तर तैयारी करते रहेंगे। किन्तु जहां तक अटलांटिक समुदाय की रक्षा-योजना का प्रश्न है, उसके लिए यह निर्णय किया गया कि 'संतुलित सामूहिक सेनाओं' की प्रणाली में ही सामर्थ्यानुसार हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति की आशाएं केन्द्रित हो सकेंगी।

उत्तर अटलांटिक समुदाय की रक्षा के लिए हमें अन्तिम कीमत क्या चुकानी पड़ेगी, यह भविष्यवाणी कोई नहीं कर सकता। ऐसे मनुष्य बहुत ही कम होंगे जिन्हें यह सन्देह है कि प्रयास, सामग्री और धन के रूप में ये कीमत बहुत बड़ी होगी। ज्यों-ज्यों यह वर्ष समाप्त होने जा रहा है, इस समुदाय के लोग आत्मरक्षा के लिए अपने कन्धों पर अपेक्षाकृत अधिक बोझा उठाने के लिए अपने को नई परिस्थितियों के अनुकूल ढाल रहे हैं। ऐसा करते हुए उन्हें यह आशा है कि आत्मरक्षा के हेतु मानव-जीवन की आहुति देने के लिए उन्हें बाध्य नहीं होना पड़ेगा।

सैनिक सहायता

आज अमेरिका एक बड़ी सैनिक शक्ति है; किन्तु यह शक्ति उसने स्वेच्छा से सम्पादित नहीं की। हम शान्तिकाल में अपने को सशस्त्र बनाने तथा दूसरे राष्ट्रों को हथियारबंद करने में सदा झिझकते रहे हैं। परन्तु अब अधिकांश अमेरिका निवासियों के मन में यह संदेह बाकी नहीं रह गया है कि हमें न केवल अपनी बल्कि सारे संसार की शान्ति की रक्षा के लिए ये दोनों ही काम करने चाहिएँ।

हम केवल हथियारों पर ही भरोसा नहीं करते। शान्तिप्रिय राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाने के निमित्त अमेरिका की नीति तीन समानान्तर दिशाओं में प्रयत्नशील है।

प्रथम—मार्शल-योजना, चतुर्थ लक्ष्य योजना तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक एवम् वित्तीय संस्थाओं द्वारा सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्थाओं के निर्माण के प्रयत्न करना;

द्वितीय—संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा तथा उत्तर अटलांटिक संधि और रायो समझौते (Rio Pact) के द्वारा एक सामूहिक रक्षा-व्यवस्था के निर्माण का प्रयत्न करना;

तृतीय—शान्तिप्रिय राष्ट्रों को आत्मरक्षा के लिए सशस्त्र होने में मदद देकर सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को वास्तविक रूप देने और पुनर्निर्माण के कार्यक्रम को सबल बनाने का प्रयत्न करना।

स्वाधीनता की रक्षा के लिए कटिबद्ध जनवर्ग को दी गई आर्थिक सहायता के साथ-साथ थोड़ी-सी भी सैनिक सहायता कितनी कारगर साबित हो सकती है, यह हमें यूनान तथा तुर्की में देखने को मिला।

सितम्बर १६४६ में कांग्रेस ने पारस्परिक-रक्षा-सहायता कानून (Mutual Defence Assistance Act) की स्वीकृति देकर सैनिक सहायता के कार्यक्रम को अधिक व्यापक बनाने का अधिकार प्रदान कर दिया। अपनी इस सैनिक सहायता को विस्तृत रूप देने में हमारा मुख्य ध्येय पश्चिमी यूरोप को और विशेषकर उत्तर अटलांटिक संधि में हमारे साथ सम्मिलित होने वाले राष्ट्रों को आत्मरक्षा करने में मदद देना था।

सन्धि-पत्र के तीसरे अनुच्छेद में स्वयम् इस आवश्यकता का स्पष्टीकरण किया गया है। इस अनुच्छेद में बतलाया गया है कि सन्धि से आबद्ध प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे से मिल-जुल कर (सामूहिक रूप से) अथवा पृथक्-पृथक् रूप से सम्पादित, पारस्परिक स्थायी सहायता एवम् लगातार जारी रहने वाली स्वावलम्बन की भावनाओं द्वारा सशस्त्र हमलों का मुकाबला करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए अपने-अपने राष्ट्र की व्यक्तिगत तथा सबकी मिली-जुली सामूहिक शक्ति का संरक्षण एवम् संवर्द्धन कर सकेगा।

अब यह पहला ही अवसर था, जबकि अमेरिका ने शान्तिकाल में सामूहिक और संतुलन रक्षा-व्यवस्था कायम रखने के लिए सैनिक सहायता देने की योजना बनाई। 'आत्म-रक्षण एवं पारस्परिक सहायता' इस योजना के लिए प्रेरक शक्ति साबित हुई। जिस प्रकार मार्शल योजना और उत्तर अटलांटिक संधि की जड़ में यही भावना केन्द्रित थी उसी प्रकार इस नई सैनिक

सहायता-योजना का भी यही आशय था।

पश्चिमी यूरोप के अतिरिक्त इस सैनिक-सहायता-कार्यक्रम में अन्य ऐसे महत्वपूर्ण स्थान भी सम्मिलित कर लिये गए, जिनको शक्तिशाली केन्द्रों में परिणत करना आवश्यक समझा गया। इनमें मध्यपूर्व में यूनान, तुर्की और ईरान और सुदूरपूर्व में कोरिया, फिलिपाइन्स और चीन के व्यापक क्षेत्र शामिल थे। परन्तु इस सैनिक सहायता का वृहत्तम अंश पश्चिमी यूरोप के ही हिस्से में आया। अर्थात् १९५० में कुल मिलाकर ६,५७,००,५०,००० रुपये की सैनिक सहायता देने का अधिकार दिया गया था और उसमें से पाँच अरब रुपये केवल पश्चिमी यूरोप को मिले; इसी प्रकार इस कार्यक्रम की मद में दूसरे वर्ष के लिए स्वीकृत कुल ६१,१२,५००,००० रुपये में से उतनी ही सहायता उसे १९५१ में भी मिलेगी।

दूसरे वर्ष के अनुमानित आंकड़ों से शान्तिकालीन आवश्यकताओं की झलक का आभास होता है। लेकिन कोरिया पर कम्युनिस्टों द्वारा मार्मिक और भयंकर आक्रमण के कारण उत्पन्न भिन्न स्थितियों का मुकाबला करने के लिए इन अनुमानों में संशोधन करना होगा और उनमें वृद्धि होकर रहेगी। इसकी स्थिति का सामना करने के लिए पहली क़िस्त के रूप में २० अरब रुपये की अतिरिक्त मांग की गई। कम्युनिस्ट सेनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे सैनिक आक्रमण के क्षेत्र में विवेकशून्य दुस्साहस करने के लिए तैयार हैं। और यह भविष्यवाणी करना कठिन था कि उनका अगला प्रहार कहाँ होगा।

* * * *

आम तौर पर सैनिक सहायता का स्वरूप और ढांचा आर्थिक सहायता से ही मिलता-जुलता है। यूरोप के पुनर्निर्माण-कार्यक्रम की तरह ही अमेरिका ने सहायता प्राप्त करने वाले प्रत्येक राष्ट्र के साथ पृथक्-पृथक् समझौता किया है। प्रत्येक समझौते में उस देश की विशिष्ट आवश्यकताओं की झलक के साथ-साथ यह भी आभास होता था कि वह स्वयं क्या-कुछ कर सकता था और अमेरिका से प्राप्त होने वाली सहायता की दिशा में उसे

क्या-कुछ करना था। जो भी हो, उन मामलों का अन्तिम निर्णय करने का अधिकार हमने अपने पास ही रखा था।

हमारी सैनिक सहायता का आधार एकीकृत यूरोपीय योजना है और आर्थिक सहायता के ढांचे का भी वही रूप है। हमारी सहायता का कुछ अंश निर्मित अस्त्रों और कुछ कच्चे माल के रूप में होता है, जिससे सहायता पाने वाला राष्ट्र स्वयं माल तैयार कर सकता है।

अटलांटिक समुदाय की सफल रक्षा-व्यवस्था की खोई हुई वृहत् कड़ी की पूर्ति के लिए पारस्परिक-रक्षा-सहायता-कार्यक्रम का निर्माण हुआ है। विशेषता यह है कि सफल रक्षा-व्यवस्था से तात्पर्य आक्रान्ता द्वारा विजित एवं अधिकृत देशों की मुक्ति के लिए प्रयास करना नहीं है। कोई भी व्यक्ति, और कम-से-कम यूरोप के लोग तो किसी भी हालत में उसे सफल रक्षा-व्यवस्था नहीं समझेंगे। उत्तर अटलांटिक समुदाय की सामूहिक शक्ति का निर्माण उस समुदाय के प्रत्येक सदस्य की आक्रमण से रक्षा करने के लिए किया गया है। इस समय हम इसी प्रकार की रक्षा-व्यवस्था का निर्माण करने के महान् सहकारी प्रयास में जुटे हुए हैं।

राष्ट्रीय रक्षा-व्यवस्था

रक्षा-संस्थापन हमारे प्रेसिडेण्ट की विदेश-नीति का प्रमुख आधार है। हमारी लोकतन्त्र-प्रणाली में सैनिक-शक्ति से हमारा पृष्ठ-पोषण होता है, किन्तु उससे हमारी नीतियों का निर्माण नहीं होता। सैनिक-शक्ति को पर्याप्त मात्रा तथा व्यवस्थित रूप में बनाये रखने की ज़िम्मेदारी विधान के अनुसार रक्षा-मंत्री के हाथों में सौंपी गई है, किन्तु व्यावहारिक रूप में बहुधा कांग्रेस हमारी सुरक्षा की रूप-रेखा का निर्माण करती है, क्योंकि उसके हाथों में सेना पर पैसा खर्चने और न खर्चने का पूरा अधिकार होता है और साथ ही यह भी अधिकार होता है कि वह केवल विशिष्ट उद्देश्य के लिए आर्थिक सहायता को सीमित कर दे।

युद्ध के बाद से समुद्र-पार की हमारी ज़िम्मेदारियों के और संसार की

संकटपूर्ण स्थिति के कारण हमारे लिए आवश्यक हो गया है कि हम अपने शान्तिकालीन इतिहास में बृहत् रक्षा-सेना और बृहत् फ़ौजी बजट का समर्थन करें।

हमारी ज़िम्मेदारियों में एक यह भी है कि हम तब तक जर्मनी और जापान पर अधिकार जमाये रहें जब तक उनके साथ संतोषप्रद शान्ति-संधियाँ नहीं हो जातीं। हमारी दूसरी ज़िम्मेदारी उन अड्डों को सशक्त एवम् सुदृढ़ बनाना है, जिनकी हमें युद्ध-काल में आवश्यकता होगी और साथ ही समुद्र-पार के अपने सैनिकों के यातायात की पंक्ति को भी हमें कायम रखना है।

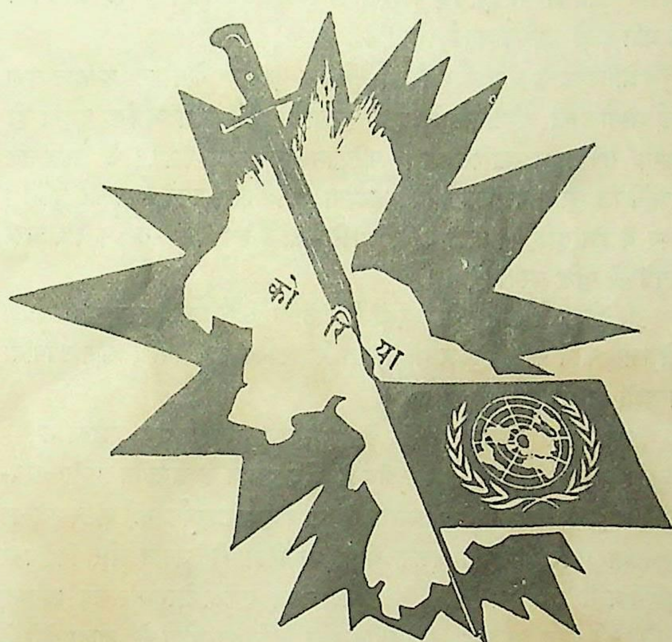
रक्षा समस्या के सम्बन्ध में हमारे दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हुए जनरल ब्रैडले ने कहा था—

"हमारे सैनिक ढांचे के मूल स्वरूप दो मुख्य तत्वों पर निर्भर हैं—एक तो वर्तमान सेना और दूसरा आम सैनिक भरती का आयोजन। चूँकि यह एक वास्तविकता है जिसे कोई भी आक्रान्ता उतने ही स्पष्ट रूप से जानता है जितना कि हम, अमेरिका अपनी इच्छा से युद्ध में नहीं कूदेगा। हम केवल उतनी ही सैनिक-शक्ति रखते हैं, जो आक्रमण होने की दशा में सर्वनाश से हमारी रक्षा कर सके और जो शत्रु पर शक्तिशाली प्रत्याक्रमण करके हमारी आम सैनिक भरती सम्पूर्ण होने तक उसकी प्रगति रोके रहे। इसलिए इतनी बड़ी सेना रखना जो एक बड़े युद्ध को जीतने के लिए काफी हो, राजनीतिक दृष्टि से असंगत और आर्थिक दृष्टि से मूर्खतापूर्ण होगा। हमारी आम सेना की भरती की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि हमें शिक्षा, ट्रेनिंग और सेनाओं को ठिकानों पर भेजने और हटाने की सुविधाएँ उपलब्ध हो सकें, और हम शीघ्रातिशीघ्र अपनी सशस्त्र सेनाओं का विस्तार करते हुए अन्त में सहयोगी मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति के प्रचण्ड वेग से शत्रु पर आक्रमण कर सकें।"

जनरल ब्रैडले के इन शब्दों को कहे हुए अभी चार महीने भी नहीं हुए थे कि कम्युनिस्ट सेनाओं ने जून १९५० में दक्षिण कोरिया पर धावा बोल दिया। यह आक्रमण बिना किसी प्रकार के उत्तेजनापूर्ण कारण के किया

यगा था और बहुत नृशंस था। फलतः सुरक्षा-परिषद् के आदेश पर सशस्त्र अमेरिकन सेनाएँ जापान में अपने निकटतम अड्डों से, जो सौ मील से भी अधिक के अन्तर पर स्थित थे, शत्रु के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए युद्ध-क्षेत्र में कूद पड़ीं।

इस प्रकार अमेरिकन सेनाओं की 'विद्यमानता' ने कम्युनिस्टों की दक्षिण कोरिया में शीघ्र विजय से होने वाले सर्वनाश को रोक लिया।



यद्यपि शत्रु की संख्या कहीं अधिक थी, तथापि हमारी सेनाओं ने महान् कठिनाइयों का सामना करते हुए भी ऐसा ज़ोरदार प्रत्याक्रमण किया कि आक्रांता की प्रगति धीमी पड़ गई और इस बीच हमें आम सेना भरती करने का अवकाश मिल गया।

इसी बीच हमारा सैनिक-संस्थान (Mobilisation base) भरती के काम में संलग्न होकर महारे सैनिक संगठन का तीव्र गति से विस्तार कर रहा था। १६ जुलाई को प्रेसिडेण्ट ने प्रस्ताव किया कि हमारे सैनिक संगठन का तत्काल विस्तार होना चाहिए। कांग्रेस के नाम एक संदेश में उन्होंने कहा—"यह तथ्य कि कम्युनिस्ट सेनाओं ने कोरिया पर आक्रमण किया है, इस बात की चेतावनी है कि संभवतः संसार के दूसरे भागों पर भी ऐसे ही आक्रमण होंगे। स्वतन्त्र राष्ट्रों को चाहिए कि वे पहले की अपेक्षा इस प्रकार के क्षुद्र आक्रमणों के प्रति कहीं अधिक सतर्क रहें।"

प्रेसिडेण्ट के प्रोग्राम में रिज़र्व-सेना का युद्ध-क्षेत्र के लिए आह्वान तथा नई भरती दोनों सम्मिलित थे, इससे सुरक्षा पर होने वाला व्यय का दुगुना हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। परिणामस्वरूप जून १६५१ के अन्त तक हम केवल सुरक्षा पर एक वर्ष में लगभग १५० अरब रुपये व्यय कर चुकेंगे। व्यय में इस वृद्धि का असर यह पड़ेगा कि करों के रूप में कम-से-कम १५ अरब रुपये की वृद्धि करनी होगी।

प्रेसिडेण्ट ने कांग्रेस से वस्तुओं के वितरण और प्राथमिकता की प्रणाली को लागू करने का अधिकार माँगा, ताकि सैनिक उत्पादन के लिए उपयोगी वस्तुओं का प्रवाह जारी रह सके।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख प्रजातन्त्रवादी एक सदस्य ने यह दिखा दिया कि वह संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के अन्तर्गत पुलिस कार्यवाही करने के लिए अत्यन्त तत्परता के साथ सुगमतापूर्वक नई परिस्थिति का मुकाबला करने की क्षमता रखता था। अमेरिका की जनता और विशेषकर युद्ध-क्षेत्र में जूझने वाले सैनिकों के लिए यह एक कठोर और कटु अनुभव था। हमें एक बार पुनः विवेकहीन और निर्दय आक्रांता से लोहा लेने के लिए सतर्क और चौकस रहना पड़ रहा था।

किन्तु इस पर भी राष्ट्रीय रक्षा-व्यवस्था शत्रु के आक्रमण को रोकने का कार्य बड़ी तत्परता के साथ निभा रही थी।

३

आर्थिक सम्पन्नता की ओर

. . . .

हमारी शान्ति और सुरक्षा पर असर डालने वाली प्रतिदिन की बढ़ती हुई संसारव्यापी आर्थिक शक्तियों की मान्यता का प्रत्यक्ष अनुभव हमें संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति कराती है।

निर्धनता जो स्वतः एक अत्यन्त निकृष्टतम अभिशाप है, उसके परिणाम शान्तिप्रिय जन-समुदाय के लिए कितने भयावह सिद्ध हुए हैं, इसका प्रत्यक्ष अनुभव हमें गत कुछ वर्षों से हो रहा है और हमारा विश्वास इस तथ्य के प्रति दिन-प्रतिदिन पक्का ही होता जा रहा है। अनुभव ने हमें सिखाया है कि 'निर्धनता' तानाशाही पद्धति की जन्म-दातृ है, जो पुलिस-व्यवस्था को काम में लाकर अपनी शासन-मशीनरी को सुदृढ़ बनाती है। परिणामतः ये पुलिस-व्यवस्था को काम में लाने वाली सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में बहुधा अराजकता फैलाने वाली ग़ैर-जिम्मेदार तथा साहसिक इकाइयां साबित हुई हैं।

अपने सारे दूषित परिणामों के साथ-साथ निर्धनता का यह भीषण अभिशाप आज संसार के दो-तिहाई जन-समुदाय के जीवन की समस्या बन गया है, किन्तु फिर भी गत सौ वर्षों में जो भी वैज्ञानिक तथा औद्योगिक उन्नति हुई है, उससे इस समस्या का हल संभव हो सका है। अब इस अभिशाप का मुकाबला सफलतापूर्वक किया जा सकेगा ऐसी आशा बलवती हो उठी है। यदि हम चाहते हैं कि अपने लिए हम एक भव्य एवम् सुरक्षित संसार का निर्माण करें तो हम अमेरिकनों का यह कर्तव्य हो जाता है कि इस मुकाबले के लिए आगे बढ़कर संसार का नेतृत्व अपने हाथों में लें।

संसार में औद्योगिक उत्पादन तथा व्यवसाय की वृद्धि के लिए साधनों के जुटाने में, यन्त्रों के विकास तथा पूंजी के द्वारा अन्य देशों के निवासियों के जीवन-मान को ऊँचा उठाने में, तथा इन बातों की उन्नति के लिए अन्य राष्ट्रों में पारस्परिक भावना को बलवती करने में, संयुक्त राज्य की सरकार ने जो अब तक किया है तथा करने में संलग्न है, इसे ही हम इस देश की आर्थिक पर-राष्ट्र नीति कहते हैं। प्रत्यन्ततः इस नीति के ध्येय राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से अत्यन्त व्यापक हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने सबसे पहले जिन संस्थाओं का निर्माण किया, उनका प्रधान उद्देश्य पारस्परिक आर्थिक सहयोग उत्पन्न करना था। ये संस्थाएं थीं खाद्य और कृषि-संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, मोनीटरी फंड (मुद्राकोष) तथा संयुक्त राष्ट्रीय सहायता और पुनस्संस्थापन संस्था। इस अन्तिम संस्था ने युद्ध में विजय प्राप्त होने से पूर्व ही, नये सिरे से मुक्त हुए राष्ट्रों की सहायता और उनके पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर दिया था।

अमेरिका ही चूंकि एक ऐसा महान् राष्ट्र था जो व्यावहारिक रूप से युद्ध की लपेट में आने से बच गया था, इसलिए उसे ही संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर और बाहर दोनों ही जगह इस दिशा में पहला कदम उठाना पड़ा। युद्ध के कारण हमारी उत्पादन-शक्ति सुदृढ़ हो चली थी और उसमें विस्तार भी हो गया था। युद्ध की अस्त-व्यस्तता के बावजूद अमेरिका का जनसमुदाय इस अग्निपरीक्षा से जब सफलतापूर्वक बाहर निकला तो उसके पास रहने के लिए अच्छे मकान थे, खाने की पर्याप्त व्यवस्था थी और पहनने को कपड़े की कमी न थी। अपने इतिहास में शायद ही इससे पूर्व अमेरिका निवासी कभी इतने स्वस्थ और शक्तिशाली रहे हों।

युद्धोपरान्त १९४५ में जब हमारे शक्तिशाली एवम् पूर्णरूपेण स्वस्थ तथा सम्पन्न देश अमेरिका ने सर उठाकर अपने चारों ओर देखा, उसे संसार में सर्वत्र निर्धनता, भुखमरी तथा अराजकता का ताण्डव-नृत्य ही दीख पड़ा। वह परिस्थिति भयङ्कर अवश्य हो गई थी, किन्तु उसका कारण युद्ध नहीं था। दोनों विश्व-व्यापी महायुद्धों के बीच का समय घोर निराशा का युग था।

उस समय तत्कालीन विभिन्न राष्ट्रों के बीच अत्यन्त कटुता फैलाने वाला आर्थिक युद्ध छिड़ा हुआ था, जिससे हमारा राष्ट्र भी मुक्त नहीं था। ऐसी परिस्थिति में यूरोप अपना व्यवसाय-सन्तुलन केवल इसलिए कायम रख सका था क्योंकि उसने विदेश में अपनी पूंजी लगा रखी थी और जिस कच्चे माल पर उसका (यूरोप का) अस्तित्व ही निर्भर था उसका मूल्य उस समय सारे संसार में असाधारण तरीके से गिरा हुआ था, जिसका परिणाम राजनीतिक वातावरण पर अत्यन्त अस्वास्थ्यकर पड़ रहा था। जो साम्राज्यशाही प्रणाली यूरोप को सारे संसार के व्यापार का केन्द्र बनाये थी और यूरोपीय सम्पन्नता एवम् वैभव का मुख्य कारण बनी हुई थी, यही वह समय था, जब उसके पांव लड़खड़ा चले थे। उधर निर्धनता के पाटों में पिसा हुआ एशिया का जन-समुदाय बेचैनी से करवटें लेने लगा था।

इस कारण १९४५ के युद्धोत्तरकालीन विश्व के कोटि-कोटि भूखे, बेघरबार और बेरोजगार व्यक्तियों की समस्या का हल इसमें न था कि पुरानी आर्थिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण किया जाय, बल्कि इसमें था कि उनके लिए एक ऐसी नई और उत्तम व्यवस्था की रचना की जाय जिसके अन्तर्गत दुनिया के सब लोगों को सुचारु रूप से अपनी आजीविका कमाने और अपना भविष्य अधिक सुरक्षित बनाने का अवसर प्राप्त हो सके।

इसी नई और श्रेष्टतर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की रूपरेखा अब एक निश्चित रूप धारण करने लगी है। इसकी रूपरेखा का आभास आपको अमेरिका की पर-राष्ट्रों से सम्बन्धित नीतियों से मिल सकता है। इन नीतियों के तीन बड़े उद्देश्य हैं—यूरोप की महान् उद्योगशाला (वर्कशाप) का आधुनिकतम ढंग पर पुनर्निर्माण करने में सहायता प्रदान करना; दूसरे, संसार के 'पिछड़े हुए और कम उन्नत' देशों में नये कारखानों और ऐश्वर्य व वैभव के नये साधनों की उन्नति करना; और तीसरे, विश्व-व्यापार के मार्ग को प्रशस्त करना, ताकि उत्पादन का विभाजन एवम् उपभोग अधिक व्यापक रूप से हो सके।

यूरोपीय पुनर्निर्माण

यूरोप में युद्ध के समाप्त होने के १८ मास पूर्व से ही पुनर्निर्माण की योजनाओं को कार्यान्वित करना प्रारंभ हो गया था। नवंबर १९४३ में चवालीस राष्ट्रों ने मिलकर 'यूनरा' (UNNRA) अर्थात् 'संयुक्त राष्ट्रीय सहायता तथा पुनर्स्थापन प्रबंध-संस्था' (United Nations Relief & Rehabilitation Administration) को जन्म दिया। इस प्रबंध-संस्था (यूनरा) का प्रधान उद्देश्य था मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं के साथ स्वतन्त्र किये गए प्रदेशों में जाकर वहाँ के निवासियों की भूख मिटाना तथा उनको रोगों से मुक्त कराना; इसके साथ ही उन प्रदेशों में कृषि-व्यवस्था तथा उद्योग-व्यवसाय का पुनर्सङ्गठन करना तथा वहाँ के यातायात का पुनरुद्धार करना। चालक-शक्ति एवम् संवाद-वाहन तथा संचार-संबंधी साधनों को फिर से व्यवस्थित रूप देना भी उस संस्था का ध्येय था।

१९४४ से लेकर १९४७ तक इस संस्था पर जितना व्यय हुआ अकेले अमेरिका ने उसका लगभग ७० प्रतिशत रुपया दिया। इसके अलावा 'अन्तरिम सहायता' (Interim Aid) के अन्तर्गत हमने अपने यूरोपी मित्रराष्ट्रों को सहायता की भिन्न-भिन्न योजनाओं के द्वारा लगातार प्रत्यक्ष सहायता पहुँचाई। इस प्रकार १९४७ तक युद्धोत्तर यूरोपीय सहायता के मद में अमेरिका ५५ अरब रुपये खर्च कर चुका था। अमेरिकन खाद्य और अन्य आवश्यक सामग्री ने यद्यपि यूरोप को भुखमरी और अराजकता की लहर से कुछ समय के लिए जरूर बचा लिया, तथापि इतने पर भी सही अर्थ में वास्तविक पुनर्निर्माण वहाँ संभव न हो सका और न शीघ्र ही ऐसे होने की कोई आशा ही दिखाई दी।

हमने चूंकि थोड़ी-थोड़ी करके सहायता की थी, इसलिए यूरोपीय व्यापार की रुकावटें दूर नहीं की जा सकीं। इस सहायता के साथ-साथ कर, भूमि और मुद्रा-सम्बन्धी आवश्यक सुधार नहीं किये गए। प्रत्येक यूरोपीय राष्ट्र स्वयम् अपनी ही सीमित आर्थिक व्यवस्था की परिधि में जकड़ा हुआ अपने पुनर्निर्माण के लिए संघर्ष कर रहा था।

इसके अलावा कम्युनिस्टों के निरन्तर आन्दोलन के फलस्वरूप यूरोप की सरकारें कमज़ोर पड़ चुकी थीं और सुधार-सम्बन्धी कार्य को प्रोत्साहन नहीं मिल रहा था। रूस के लोह-आवरण के कारण खाद्य प्राप्ति और व्यापार की मंडियों के द्वार बन्द हो चुके थे, जिन पर पश्चिमी यूरोप सदा से आश्रित रहता आया था।

१६४६-४७ की भयंकर सरदी के कारण जबकि सारा यूरोप बर्फ से ढक गया था और महाद्वीप का जीवन प्रायः निस्तब्ध और निश्चल हो गया था, उन दिनों लोग यूरोप में सरदी, भूख और अन्धकार से जूझ रहे थे और अमेरिका में नई-नई योजनाएं बनाई जा रही थीं।

५ जून, १६४७ को अमेरिका के विदेश-मन्त्री जनरल मार्शल ने हारवर्ड के अपने प्रसिद्ध भाषण में यूरोप की समस्या के हल के लिए एक नया सुझाव पेश किया। उन्होंने यूरोप की मदद के लिए कामचलाऊ साधनों को खत्म कर देने की घोषणा की। उन्होंने कहा—"भविष्य में अमेरिकन सरकार जो भी सहायता करेगी, उसका उद्देश्य रोग का शमन न होकर उसका निवारण होगा।" उन्होंने यूरोप के राष्ट्रों को पुनर्निर्माण सम्बन्धी संयुक्त योजना तैयार करने के लिए भी प्रेरित किया और वचन दिया कि यदि यूरोप के राष्ट्र एक साथ मिलकर ऊपर उठने की ज़ोरदार कोशिश करेंगे तो अमेरिका उन्हें ठोस मदद देगा।

तत्काल ही इसकी प्रतिक्रिया हुई। १२ जुलाई को यूरोप के १६ राष्ट्रों की एक गोलमेज़ कान्फ्रेंस हुई, जिसमें उन्होंने अमेरिका के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए एक सहकारी-पुनर्निर्माण-कार्यक्रम की योजना बनाने का काम शुरू कर दिया। यह कार्यक्रम पश्चिमी यूरोप के पुनर्निर्माण तक ही सीमित रह गया, क्योंकि एक तो रूस इन कान्फ्रेंसों की प्रारम्भिक बैठकों में से ही उठकर चला गया था और दूसरे, उसने अपने किसी पिछ्लग्गू देश को इस परिषद् में भाग लेने की आज्ञा नहीं दी थी।

विदेश-मन्त्री मार्शल के प्रस्ताव के बाद १० महीने तक अटलांटिक के दोनों ओर निर्माण-योजना का ज़ोरदार काम होता रहा। इससे पहले शायद

ही कभी अमेरिका की नीति पर जनता द्वारा तथा कांग्रेस के द्वारा इतना वादविवाद हुआ हो, अथवा उसकी इतनी समीक्षा की गई हो। व्यापार और वाणिज्य-मन्त्री के नेतृत्व में हैरीमैन कमेटी के नाम से प्रमुख नागरिकों की एक समिति बनाई गई, जिसने यूरोप की आवश्यकताओं और उन्हें पूरा करने की अमेरिका की क्षमता का गहरा अध्ययन किया। सरकारी विशेषज्ञों की 'क्रग' नामक एक समिति ने इस बात की जांच-पड़ताल की कि इस योजना का अमेरिकन साधनों पर क्या प्रभाव होगा। राष्ट्रपति की आर्थिक परामर्शदातृ परिषद् ने अमेरिका की आर्थिक व्यवस्था पर पड़ने वाले इन योजना के प्रभावों का अध्ययन किया। कांग्रेस ने इन सभी जांच-पड़तालों पर सोच-विचार किया, व्यापक सार्वजनिक सुनवाई की और स्वयम् इस बारे में और अधिक जांच-पड़ताल की। फलतः ३ अप्रैल को राष्ट्रपति ने १९४८ के आर्थिक सहयोग कानून (Economic Cooperation Act of 1948) को स्वीकृति दे दी।

इस कानून के अन्तर्गत यूरोप के १६ राष्ट्रों को तथा पश्चिमी जर्मनी और ट्रीस्ट के स्वतंन्त्र इलाकों को मदद देने के एक चतुर्वर्षीय कार्यक्रम की स्वीकृति दी गई थी। इसमें घोषणा की गई थी कि यूरोपीय देशों में व्यक्तिगत स्वाधीनता के सिद्धान्तों का संरक्षण, संस्थाओं की स्वतन्त्रता और आज़ादी का वास्तविक स्वरूप मुख्यतः इस बात पर निर्भर है कि वहाँ ठोस एवम् स्वस्थ आर्थिक परिस्थितियों को जन्म दिया जाय, मजबूत अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित किये जायं और यूरोप के देश असाधारण विदेशी सहायता के बिना ही अपनी एक स्वस्थ आर्थिक व्यवस्था का निर्माण करें। इसमें यूरोप के पुनर्निर्माण और उसके पुनरुद्धार के लिए एक ऐसी योजना तैयार करने को कहा गया था जिसका मुख्य ध्येय 'उत्पादन को तीव्रता के साथ बढ़ाना हो, विदेश-व्यापार में वृद्धि और विस्तार हो, देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में सुदृढ़ता लाना हो, आर्थिक सहयोग की उन्नति करना हो और जिसमें मुद्रा-विनिमय की न्यायोचित और समान दरों को कायम रखने की हर संभव चेष्टा और व्यापार-सम्बन्धी बाधाओं को उत्तरोत्तर हटाने का प्रयास सम्मिलित हो'।

यूरोप के राष्ट्रों ने इसी उद्देश्य को सामने रखकर घोषणा की कि हम अपने पुनर्निर्माण के आयोजन और निर्देशन के लिए संयुक्त संगठन की रचना कर रहे हैं। उनके इस संयुक्त संगठन का नाम यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन (OEEC अर्थात् Organisation of European Economic Cooperation) रखा गया।

अपने पुनर्निर्माण कार्यक्रम के प्रथम दो वर्षों में यूरोपीय जनता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा किन्तु उत्पादन के क्षेत्र में उन्हें जो सफलता मिली, वह जनरल मार्शल के शब्दों में 'एक जादू-सा कार्य हो गया था।' उनका कृषि-उत्पादन पुनः युद्ध से पूर्व के स्तर पर आ गया और औद्योगिक उत्पादन युद्ध से पूर्व के स्तर की तुलना में भी पांचवां भाग और अधिक बढ़ गया था। लेकिन इन आंकड़ों से इस कहानी का केवल छोटा-सा रूप ही प्रकट होता है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन फिर से प्रायः उसी स्तर पर पहुँच गए थे और जनता नई आशा और नये विश्वास के साथ अपनी स्वतन्त्र संस्थाओं की ओर देखने लगी थी।



यूरोपियनों को जिन भयंकर समस्याओं का मुकाबला करना था, उनमें से उनके नगरों तथा खेत-खलिहानों के विध्वंस से उत्पन्न हुई परिस्थितियों की समस्या इतनी भयंकर न थी। मुख्य समस्या उनके सामने यह थी कि यूरोप की जन-संख्या के अधिकांश भाग को कहाँ रखा जाय, उसे क्या खिलाया-पिलाया जाय और किस प्रकार उसका पालन-पोषण किया जाय।

इसके साथ-साथ दंगे-फसाद तथा हड़तालें, जिन्हें ख़ास तौर पर कम्युनिस्टों से ही प्रेरणा मिलती थी, भुलाने वाली बातें नहीं थीं। उनके सामने प्रश्न यह भी था कि पूर्ण आत्म-निर्भरता प्राप्त करने के लिए किस प्रकार उत्पादन बढ़ाया जाय, किस प्रकार उस उत्पादित माल को युद्ध से भी पूर्व की अपेक्षा अधिक परिमाण में विदेशी मण्डियों में खपाया जाय तथा विदेशों में लगी हुई पूंजी में जो हानि हुई थी, उसके साथ-साथ जहाज़ों तथा अन्य काम-धंधों के फलस्वरूप पहुँची हुई हानि की किस प्रकार पूर्ति की जाय।

परन्तु इन देशों की सबसे कठिन समस्या, जिसकी महत्ता को समझना अमेरिकनों के लिए भी दुरूह था, वह यह थी कि किस प्रकार उत्पादन और व्यापार-सम्बन्धी उनकी पुरानी आदतों और प्रवृत्तियों का एकदम त्याग कराया जाय। युद्ध से पूर्व प्रत्येक देश ने अपनी आर्थिक व्यवस्था के संरक्षण के लिए अपने यहाँ व्यापारिक और मुद्रा-सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध लगा रखे थे; परन्तु अब उन्हें ये सब प्रतिबन्ध हटा देने थे।

आर्थिक सहयोग समिति (Economic Cooperation Administration) के प्रधान, पॉल हौफमैन ने सारे पश्चिमी यूरोप को अमेरिका की भांति एक ही मंडी का रूप देने पर ज़ोर दिया, जिसमें बिना किसी नियमन के लोगों का आना-जाना हो सके तथा जहां क्रय-विक्रय और मुद्रा का अबाध गति से प्रचलन हो सके। लेकिन इस घोषित उद्देश्य की पूर्ति तो स्वयम् यूरोपीय राष्ट्र ही कर सकते थे।

यूरोप को एक ही मंडी का रूप देने का कार्य १९४९ और १९५० में धीरे-धीरे किन्तु अबाध गति से चलता रहा। इस प्रगति से यूरोप की आर्थिक व्यवस्था में स्थिरता और विश्वास का आभास होने लगा। यूरोप के विभिन्न देशों की सरकारें ऐसी व्यापारिक रियायतें देने और सुधार करने के बारे में सोच-विचार करने लगीं, जिनका होना आज से दो वर्ष पूर्व असंभव प्रतीत होता।

यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन ने अपने सदस्यों से अपने यहाँ यथा-सम्भव अधिक-से-अधिक परिमाण-सम्बन्धी आयात प्रतिबन्ध (कोटा व्यवस्था)

स्वेच्छापूर्वक हटा देने की प्रेरणा की। इस दिशा में पहली प्रतिक्रिया तो बहुत निराशाजनक रही, किन्तु यह आशा की गई कि १९५० के अन्त तक इस प्रकार के कम-से-कम आधे प्रतिबन्ध स्वयं हट जायंगे।

सितम्बर १९४९ में ब्रिटेन ने डालर मुद्रा के अनुपात में अपनी मुद्रा का पुनमू ल्यन कर दिया और इसी प्रकार मार्शल योजना के अन्तर्गत सहायता प्राप्त करने वाले राष्ट्रों ने भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया। इसका प्रभाव यह हुआ कि डालर वाली मंडियों में यूरोप के देशों की वस्तुओं की कीमत कम हो गई और यूरोप की निर्यात-स्थिति में उन्नति होने लगी।

परन्तु यह अनुभव किया गया कि जब तक यूरोपीय मुद्राओं के स्वतंत्र अन्तर्विनिमय का कोई उपाय नहीं ढूंढा जायगा तब तक अन्तयू रोपीय व्यापार को प्रतिबन्धों के दलदल से मुक्ति नहीं दिलाई जा सकेगी। इसके लिए जुलाई १९५० में अन्तिम रूप से एक योजना स्वीकार कर ली गई और एक यूरोपीय भुगतान संघ (European Payments Union) की स्थापना की गई। यूरोपीय भुगतान संघ वास्तव में पश्चिमी यूरोप के व्यापार और आर्थिक लेन-देन से उत्पन्न होने वाले अन्तर्देशीय भुगतानों और दावों को निबटाने का एक समाशोधन-गृह (क्लियरिंग हाउस) है। अटलांटिक के दोनों ओर के देशों में इसका स्वागत यूरोप के एकीकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रगति के रूप में किया गया।

पॉल हॉफमैन का दावा है कि यूरोप के पुनर्निर्माण कार्यक्रम के लिए अमेरिका की जनता को एक पाई भी नहीं देनी पड़ी। उनके इस कथन का आधार उनका यह दृढ़ विश्वास है कि यदि स्वतंत्र यूरोप का आर्थिक और राजनीतिक पुनरुद्धार न हुआ होता तो अमेरिका को अवश्य अरबों-खरबों डालर शास्त्रीकरण पर खर्च करने पड़ते। कहने का तात्पर्य यह है कि अमेरिकन सहायता ने यूरोप को न केवल आर्थिक पतन से बल्कि कम्युनिस्ट प्रभुत्व से भी बचा लिया है।

इस पुनर्निर्माण कार्यक्रम पर पहले तीन वर्षों में लगभग ५७ अरब ५० करोड़ रुपये खर्च आने का अनुमान किया गया था। इस पूँजी के बदले

लाभ के रूप में मिला सुदृढ़ और स्वतंत्र पश्चिमी यूरोप, जो शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दोनों ही दृष्टियों से न केवल अपने सैनिक बचाव की अधिकांश जिम्मेदारी का बोझा उठाने को तैयार हो सकेगा, बल्कि उत्तर अटलांटिक समुदाय की सामूहिक रक्षा-व्यवस्था के बोझे को भी अपने ऊपर ले सकेगा।

जर्मन-समस्या

मार्शल योजना से प्रभावित देशों के सामने जो समस्याएँ थीं उनमें सब से जटिल समस्या यह थी कि पश्चिमी यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण में जर्मन जन-समुदाय का क्या स्थान होगा? क्योंकि यद्यपि पराजित जर्मन राष्ट्र के प्रति सारे पश्चिमी यूरोप में भय तथा घृणा के भाव फैले हुए थे तथापि यूरोपीय पुनर्निर्माण को सम्भव बनाने वाले साधनों में से एक सधान जर्मनी के पास भी था।

वह साधन था रूर की घाटी का उपयोग, क्योंकि रूर यूरोपीय महाद्वीप का प्रमुख औद्योगिक केन्द्र है, जहाँ कोयले की खानों, इस्पात के कारखानों, मशीनी औजारों के कारखानों और कुशल कारीगरों की कोई कमी नहीं। हिटलर ने इसी रूर घाटी के बलबूते पर जर्मनी का पुनःशस्त्रीकरण किया था, और पश्चिमी मित्रराष्ट्र इस बात पर तुले हुए थे कि भविष्य में में रूर घाटी का ऐसा उपयोग फिर कभी नहीं होने दिया जायगा।

परन्तु अब युद्धोत्तर यूरोप वास्तव में रूर घाटी के उत्पादन पर इतना अधिक निर्भर था जितना कि शायद वह युद्ध से पूर्व भी नहीं था। ब्रिटेन अब पहले की भांति यूरोप महाद्वीप की आवश्यकताओं के लिए कोयला नहीं दे सकता था। उधर पोलैंड में, ऊपरी साइलेशिया की खानों से अब रूस अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहा था। तिस पर भी, फ्रांस और जर्मनी के अन्य पड़ोसी राष्ट्र स्वाभाविक तौर पर रूर घाटी के पुनरुद्धार की कोशिश के कट्टर विरोधी थे, क्योंकि उन्हें भय था कि इससे कहीं ऐसा न हो कि एक दिन जर्मनी फिर अपनी सैनिक शक्ति को जीवन देकर उठ खड़ा हो अथवा

राष्ट्रवादी (नेशनलिस्ट) जर्मनी यूरोप की आर्थिक व्यवस्था पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर ले।

ऐसी दशा में वहाँ किस प्रकार पुनः उत्पादन शुरू किया जा सकता था और क्योंकर उसे पश्चिमी यूरोप के शान्तिपूर्ण पुनर्निर्माण के अनुकूल बनाया जा सकता था ?

चिरकाल तक इस समस्या की समीक्षा करने और विचार-विनिमय के बाद जर्मनी पर अधिकृत तीनों राष्ट्रों—फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका ने रूर घाटी के उत्पादन, संतुलन और उसके वितरण पर नियन्त्रण रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय रूर-संस्था की स्थापना की। तीनों ने बेल्जियम, हालैंड और लग्ज़म्बर्ग को इस संस्था में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया और बाद में उन्होंने नये जर्मन गणराज्य की सरकार को भी सातवां सदस्य बनने की स्वीकृति दे दी और इस प्रकार उन्होंने स्वयं पश्चिमी जर्मनी के लोगों को रूर-घाटी के नियन्त्रण में हिस्सा दिया।

रूर संस्था में गुण भी थे और दोष भी, किन्तु यह संस्था जटिलतम समस्या का एक अस्थायी हल था। इससे जर्मनी के पड़ोसियों की आशंकाओं के निवारण में मदद मिली। इससे रूर के कारखानों में काम करने वाले कुशल मैनेजरों और मजदूरों को स्वयं अपने देश के पुनर्निर्माण में बाज़ी लगाने का अवसर मिल गया। और इस प्रकार जर्मनी भी यूरोप के पुनर्निर्माण कार्यक्रम का भागीदार और सदस्य बन गया।

लेकिन क्या यह संस्था जर्मनी पर मित्रराष्ट्रों का अधिकार समाप्त हो जाने पर भी बनी रहेगी या नहीं, क्या वह बढ़ते हुए जर्मन राष्ट्रवाद के विरुद्ध एक स्थायी संरक्षण हो सकेगी ? यह एक विषम समस्या है, जिसका हल आज भी नहीं निकल पाया है।

१९५० के वसन्त में फ्रांस के विदेश-मंत्री रोबर्ट शुमां ने इस प्रश्न का निर्भीक एवं साहसपूर्ण उत्तर दिया था। यह उत्तर केवल एक आयोजना के रूप में था कि फ्रांस और पश्चिमी जर्मनी के कोयले और इस्पात के उद्योगों का एकीकरण हो और यूरोप के उन राष्ट्रों को जो इस एकीकरण और उसकी शर्तों को

मानते हों, उन्हें भी उस संगठन में शामिल कर लिया जाय। यही शुमां योजना थी।

इस आयोजन की घोषणा के कुछ ही सप्ताह के भीतर यूरोप के छः राष्ट्र पेरिस में एकीकरण की योजना की रूपरेखा और सिद्धांत निर्धारित करने के लिए एकत्रित हुए। फ्रांस और पश्चिमी जर्मनी को छोड़कर वह थे इटली, बेल्जियम, हालैंड और लग्ज़म्बर्ग। ब्रिटिश सरकार ने 'ठहरो और देखो' की नीति को अपनाने का निर्णय किया क्योंकि वह तब तक वचन-बद्ध नहीं होना चाहती थी जब तक यह केवल एक आयोजना-मात्र ही थी।

यह एक निर्भीक और क्रांतिकारी विचार था, इसलिए उसकी आलोचना होनी स्वाभाविक थी। 'कारटेल' (Cartel) शब्द का अर्थ है किसी विशेष प्रयोजन के लिए संगठन करना। आलोचकों के लिए यह 'कारटेल' शब्द एक भयानक और आपत्तिजनक शब्द बन गया। उन्हें इस पर इसलिए आपत्ति थी कि यह शब्द शक्ति के केन्द्रीकरण, नियन्त्रित उत्पादन और ऊंची कीमतों का, अर्थात एकाधिकार का, द्योतक था। परन्तु योजना के अभिभावकों का तर्क यह था कि 'कारटेल' एक परोपकारी और उदार संगठन भी बन सकता है, बशर्ते कि उसका उद्देश्य उत्पादन और मंडियों में विस्तार और कीमतों में कमी लाना हो। ये ही शुमां-योजना के घोषित उद्देश्य हैं। इस योजना के उद्देश्यों को कार्यान्वित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण किया जायगा, जिसका मुख्य कार्य इसकी देखरेख और इसकी प्रगति के बारे में संयुक्त राष्ट्र संघ को रिपोर्ट पेश करना होगा।

अमेरिका की सरकार द्वारा इस विचार और योजना का हार्दिक स्वागत और समर्थन किया गया, क्योंकि उसे इस प्रस्ताव में महान् आशा दिखाई देती थी। और यह आशा थी कि सम्भवतः अपने बड़े-बड़े उद्योगों के एकीकरण के द्वारा जर्मनी और उसके यूरोपीय पड़ोसियों के मध्य इतना घनिष्ठ संपर्क स्थापित हो जाय और उनमें सामान्य हितों की इतनी दृढ़ भावना घर कर जाय कि उनके दरम्यान युद्ध की सम्भावना न केवल कल्पनातीत बल्कि असम्भव बन जाय और इस प्रकार इस उदार फ्रांसीसी प्रस्ताव द्वारा सम्भवतः बरसों से चली आने वाली एक पुरानी शत्रुता की इतिश्री हो जाय और

संभवतः पश्चिमी यूरोप में एक नये युग का श्रीगणेश हो सके।

चतुर्थ-लक्ष्य योजना का महत्व

मनुष्य ने अभी तक केवल पृथ्वी के वैभव और संपत्ति का ऊपरी धरातल खुरच कर देखा है। अफ्रीका, एशिया और दक्षिणी अमेरिका के बड़े-बड़े इलाकों में अभी तक लाखों-करोड़ों व्यक्ति ग़रीबी में जिन्दगी काट रहे हैं। इसका कारण यह है कि उन्हें अब तक भूमि जोतने, खनिजों को निकालने और अन्य उपलब्ध साधनों से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए उपकरणों और उपायों से काम लेने का अवसर ही नहीं मिल सका है। इन इलाकों में फैली हुई गरीबी, बीमारी, और अज्ञानता का बोझ सभी स्वतंत्र और प्रजातन्त्रवादी लोगों के लिए भारी खतरा बन गया है, क्योंकि साम्यवाद एवम् अन्य प्रकार के प्रायः सारे तानाशाही नियन्त्रणों को इसी में आश्रय मिलता है।

कई पीढ़ियों से अमेरिका के लोग बराबर संसार के पिछड़े हुए भागों में वहां की जनता के साथ मिलकर काम करने, उनके रहन-सहन के तरीकों का अध्ययन करने और उन्हें अमेरिकन कुशलता और ज्ञान का भागीदार बनाने के लिए जाते रहे हैं। इन इलाकों में अमेरिकन लोगों की निजी पूँजी तेल, रबड़, टीन और बौक्साइट के उद्योगों और अन्य साधनों को उन्नत करने के लिए लगी हुई है। पिछले दस वर्षों से कांग्रेस ने अमेरिका की सरकार को विदेशों में, खासकर दक्षिणी अमेरिका में अपने औद्योगिक विशेषज्ञों के प्रतिनिधि मण्डल भेजने तथा पिछड़े देशों से कारीगरों को अमेरिका में लाकर ट्रेनिंग देने का अधिकार दे रखा है।

सन् १९४९ के अपने उद्घाटन-भाषण में प्रेसिडेण्ट ट्रूमैन ने यह सुझाव उपस्थित किया था—"अमेरिका के इस प्रकार के परम्परागत कार्य तथा हितों को एक सूत्र में आबद्ध करके उन्हें प्रमुख वैदेशिक नीति के स्तर पर पहुँचाकर अमेरिकन जन-समुदाय के तथा अमेरिका की सरकार के सामने एक महान कर्तव्य के रूप में पेश किया जाय।" चूंकि इस सुझाव का क्रम प्रेसिडेण्ट द्वारा घोषित वैदेशिक-नीति में चौथा था, अतएव यह तब से चतुर्थ-लक्ष्य योजना (Point

Four Program) के नाम से प्रख्यात हो चुका है।

श्री ट्रूमेन ने अपने इसी भाषण में आगे चलकर कहा था—"संसार के पिछड़े देशों की उन्नति तथा विकास के लिए हमें अपनी वैज्ञानिक उन्नति तथा औद्योगिक प्रगति से उन देशों को लाभान्वित कराने के निमित्त बिलकुल नई किन्तु आदर्श योजना बनाने में लग पड़ना चाहिए। हमें चाहिए कि हम अपना वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक ज्ञान-भण्डार उन शान्तिप्रिय राष्ट्रों की उन्नति के लिए प्रस्तुत कर दें, जिनके हृदयों को श्रेष्ठतर जीवन बिताने की प्रबल इच्छाएं आलोड़ित कर रही हैं। हमें यह भी चाहिए कि हम अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों के सहयोग में उन देशों में पूँजी को लगावें, जिन्हें उन्नति की आवश्यकता है। ......हमारा प्रयत्न होना चाहिए कि हम संसार के स्वतन्त्र जन-समुदाय की सहायता करें; उनके ही प्रयत्नों से खाद्य के उत्पादन में वृद्धि करायें, अधिक कपड़ा तैयार करायें, तथा उनके रहने के लिए गृह-निर्माण के साधनों में वृद्धि कराने के साथ-ही-साथ उनके बोझ को हलका करने के लिए उन लोगों में यान्त्रिक शक्तियों के प्रयोग को बढ़ावा दें।"

जैसी कि राष्ट्रपति ने कल्पना की थी, इस 'चतुर्थ-लक्ष्य' योजना के दो स्पष्ट और निश्चित अंग हैं जिनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से एक वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक सहयोग (Technical Cooperation) है, जिसका अभिप्राय व्यवसाय और विज्ञान के प्रयोग से लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा करने में सहायक होना है। कार्यक्रम के इस अंग पर अपेक्षाकृत कम खर्च होता है, क्योंकि कारीगरों के वेतन और उस सामग्री पर, जिसे वे काम में लाते हैं, बहुत कम रुपया लगता है।

दूसरा अंग बड़े पैमाने पर उन्नति करने से सम्बन्ध रखता है। उसके लिए उद्योग-विशेष के आकार के अनुकूल आवश्यक पूँजी के रूप में उतना ही धन चाहिए। पिछड़े क्षेत्रों के देश उस धन का कुछ भाग अवश्य दे सकते हैं, किन्तु सारी आवश्यक पूँजी नहीं, इसके लिए विदेशी पूँजी की आवश्यकता होती है और यह तीन स्रोतों से प्राप्त हो सकती है—१. पुनर्निर्माण और उन्नति-सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक २. अमेरिका का आयात-निर्यात बैंक

तथा ३. प्राइवेट बैंक और व्यक्तिगत पूँजी लगाने वाले लोग।

संसार की वर्तमान अनिश्चित एवं तनावपूर्ण स्थितियों के कारण तथा पिछड़े हुए क्षेत्रों में छाई अव्यवस्था के कारण निजी पूँजी लगाने वाले, विदेशों में बड़े परिमाण में पूँजी लगाने का खतरा उठाने को तैयार नहीं हैं। फलतः अमेरिका की सरकार कतिपय उपायों द्वारा कुछेक खतरे कम करने का यत्न कर रही है।

उदाहरणतः अमेरिका का पर-राष्ट्र विभाग विदेशी सरकारों के साथ ऐसी नई संधियां करने की बातचीत कर रहा है, जिनमें अमेरिका की पूँजी लगाने वालों को कतिपय संरक्षण देने का विश्वास मिल सके, ताकि उनके प्रति भेदभाव की नीति न बरती जाकर भी वैसा ही व्यवहार किया जाय जैसा कि उस देश के वासियों के साथ होता है। ऐसे नये-नये कानूनों पर भी विचार किया जा रहा है, जिनके आधार पर अमेरिका का आयात-निर्यात बैंक (Export Import Bank) धन लगाने वाले लोगों की पूँजी की बेदख़ली, ज़ब्ती और कब्ज़े तथा स्थानीय मुद्राओं की अदला-बदली के विरुद्ध संरक्षण के बतौर कतिपय ढंग के बीमों की स्वीकृति देगा, जिसका अर्थ यह होगा कि वे उस देश से बाहर नफ़ा नहीं ले जा सकेंगे।

किन्तु इस प्रकार के संरक्षणों की व्यवस्था होने पर भी यह सम्भव नहीं कि निकट भविष्य में इन पिछड़े देशों में बड़ी संख्या में निजी पूँजी लगाने के लिए लोग तैयार हो ही जायँ।

सौभाग्यवश, टैक्निकल सहयोग का कार्य अविलम्ब आगे बढ़ सकता है, और वास्तव में, उसकी मदद से संसार में ऐसा वातावरण और विशेषकर ऐसी स्थानीय परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं, जिनसे लोग अपनी निजी पूँजी लगाने में प्रोत्साहित हों, क्योंकि अनुभव से पता चलता है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफाई, साक्षरता संवाद-संचार के सुविधाजनक साधन तथा सार्वजिनक शासन-सम्बन्धी सुप्रबन्ध, ये कतिपय आवश्यक अंग हैं, जिनका बड़े पैमाने पर होने वाली योजनाओं की सफलता के लिए पहले से मौजूद होना अनिवार्य होता है। व्यावसायिक एवम् वैज्ञानिक सहयोग

के कार्यक्रम के अन्तर्गत इन परिस्थितियों को उत्पन्न करने तथा उनमें सुधार करने का काम भी शामिल होता है।

इस योजना पर अप्रैल १९५० में कांग्रेस ने अपनी सम्मति दे दी और व्यावसायिक एवम् वैज्ञानिक सहयोग के कार्यक्रम को लागू करने का काम पर-राष्ट्र विभाग के सुपुर्द कर दिया। अब आज अनेक सरकारी व गैर-सरकारी संस्थाएँ इस प्रकार के कार्य में संलग्न हैं।

नये कार्यक्रम के अन्तर्गत यह काम अधिक व्यापक और अधिक शृंखला-बद्ध हो जायगा, ताकि समय आने पर यह एक महान् राष्ट्रीय प्रयास का रूप धारण कर सके।

पहले साल, कांग्रेस ने इस काम पर खर्च करने के लिए १७ करोड़ ५ लाख रुपये की स्वीकृति दी। मोटे तौर पर इस आय-व्यय मान (बजट) का एक-तिहाई भाग संयुक्त राष्ट्र संघ के वैज्ञानिक एवम् व्यावसायिक सहयोग (टेक्निकल कार्यक्रम) पर खर्च करने के लिए निश्चित किया गया है।

अमेरिका-निवासियों ने टेक्निकल कौशल के एकाधिकार का दावा कभी नहीं किया। वास्तव में हमारे विशेषज्ञ इस तथ्य को मानने में सदा तत्पर रहे हैं कि कुछ क्षेत्रों में अन्य राष्ट्रों को भी प्रमुख स्थान प्राप्त है। उदाहरणत: मछली पकड़ने की विद्या में नार्वे के निवासी और उष्ण कटिबन्ध देशों की औषधियों के कुछ पहलुओं में ब्रिटेन के लोग।

संयुक्त राष्ट्र संघ की विशिष्ट संस्थाएँ जैसे कि खाद्य और कृषि-संगठन (FAO अर्थात् Food & Agricultural Organisation) और विश्व-स्वास्थ्य-संगठन (WHO अर्थात् World Health Organisation) ऐसी स्थिति में हैं कि वह अनेक राष्ट्रों के प्रवीणों से काम ले सकें और साथ ही उनका आर्थिक सहयोग भी प्राप्त कर सकें।

जून १९५० में संयुक्त राष्ट्र संघ का एक विशेष अधिवेशन हुआ, जिसमें ५० राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यक्रम के पहले वर्ष के लिए १०० करोड़ रुपये देने का वचन दिया। इनमें से कुछ वचन ऐसे राष्ट्रों से मिले थे, जो टेक्निकल सहायता प्राप्त करने में लगे हुए थे।

टेक्निकल सहयोग कोई ऐसी चीज तो है नहीं, जिस पर आप कुछ ख़ास नियम लागू कर सकें, किन्तु कतिपय बुनियादी सिद्धान्त तो चाहिएँ ही, जिनके द्वारा कार्य-निर्देशन हो सके। इन बुनियादी सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त आत्म-निर्भरता का है। अमेरिका अपनी टेक्निकल सहायता केवल उन्हीं देशों को देता है, जहाँ स्पष्ट रूप से उसकी जरूरत होती है और जहाँ के लोगों ने यह प्रकट किया हो कि वे स्वयं अपनी मदद करने को तैयार हैं। जब ऐसी तत्परता दिखाई देती है और ऐसा करने में प्रायः पुरानी आदतों और परम्पराओं के बन्धन को तोड़ देना पड़ता है, तो टेक्निकल सहयोग का परिणाम बहुधा जल्दी ही निकल आता है।

इस काम के लिए एक और प्रेरक सिद्धान्त यह है कि उस जगह काम शुरू किया जाय जहाँ के मनुष्य 'मनुष्य' के नाम को सार्थक करने वाले हों। ऐसे मनुष्यों को स्वयं अपने ढंग पर अपनी समस्याओं को सुलझाने में मदद दी जाय, और उन पर ऐसे विचार न लादे जायँ, जिनका उनके चरित्र और उनकी आकांक्षाओं के साथ कोई तारतम्य न हो।

अमेरिका-निवासियों ने सदा अन्य देशों के मनुष्यों के साथ 'मनुष्यों' जैसा (मानवोचित) व्यवहार करने में दिलचस्पी ली है, उन्हें राजनीति की अन्तर्राष्ट्रीय शतरञ्ज का मुहरा कभी नहीं समझा। हमारे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में सदा 'दूसरों के साथ मिलकर, सहयोग की भावना से प्रेरित होकर कार्य करना' रहा है, उन पर अपना प्रभुत्व कायम करने का उद्देश्य नहीं रहा। यह हमारे उद्देश्य तथा व्यवहार की एकात्मता ही वह धागा है जिसने हमें अन्तर्राष्ट्रों के साथ गूंथ रखा है; यही वह सर्वोपरि सिद्धान्त है जिससे चतुर्थ-लक्ष्य योजना को प्रेरणा मिली है।

यदा-कदा इस कार्यक्रम के स्वरूप के विषय में भ्रान्त धारणा से काम लिया गया है, जिसके द्वारा संसार में डालर-वर्षा की जा सकेगी। इसे अर्थजाल का कार्यक्रम बताया जाता है, किन्तु वास्तव में यह वैसी बात नहीं है। यह तो केवल आदर्श और योग्यता के वितरण का एक साधन मात्र

है। इसे 'लोक-हित' के कार्यक्रम की संज्ञा भी दी गई है और वस्तुतः इसका आशय है भी यही।

कुछ लोग यह पूछते हैं, "आखिर हमें इन पिछड़े देशों के लोगों को उनके रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने में सहायक होने की क्या जरूरत पड़ी है, जबकि स्वयम् लाखों अमेरिकनों को इस प्रकार की सहायता की आवश्यकता है?" निश्चय ही इसका उत्तर यह है कि हम ये दोनों ही काम कर सकते हैं और वास्तव में हम कर भी रहे हैं। उदाहरणतः चतुर्थ-लक्ष्य योजना पर निर्धारित अनेक कार्यों में से भूमि-संरक्षण, सिंचाई और सार्वजनिक स्वास्थ्य का कार्य हम अपने यहाँ कर ही रहे हैं। इस प्रकार के सभी देशी और विदेशी कार्यक्रमों से हमारे अनुभव और ज्ञान में वृद्धि होती है। विचारों और कुशल शिल्पियों के आदान-प्रदान से दोहरा लाभ होता है।

कुछ लोगों का कहना है, "चतुर्थ-लक्ष्य कार्यक्रम का साम्यवाद की रोक-थाम से क्या सम्बन्ध है? क्या यह समय संसार के दूसरी ओर रहने वाले लोगों को अच्छी फसलें पैदा करने और मलेरिया से बचने के लिए सहायता देने का है?" इसका उत्तर केवल यह है कि यही वह समय है, जबकि अधिकांश लोग, जिनके साथ हम काम कर रहे हैं, अपनी भूख, बीमारी और जीने-मरने की कठिनाइयों के संघर्ष-सरीखी अत्यावश्यक समस्याओं को सुलझाने की अपेक्षा साम्यवाद और प्रजातन्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों में कम दिलचस्पी ले रहे हैं।

साम्यवादी उन्हें उनकी सब बीमारियों के लिए राम-बाण औषध देने का वचन देते हैं, किन्तु हमें व्यावहारिक और ठोस रूप में उनके सामने यह प्रमाणित करने का अवसर मिला है कि एक स्वतन्त्र समाज के द्वारा ही मानव-कल्याण और मानव-प्रतिष्ठा दोनों को ही प्रोत्साहन मिल सकता है।

विश्व-व्यापार और विश्व शान्ति

यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम (European Recovery Program) के फलस्वरूप यूरोप का महान् कारखाना फिर से अपने पैरों पर खड़ा हो गया है और लाखों कुशल शिल्पी पुनः उत्पादन-कार्य में जुट गए हैं।

समय आने पर चतुर्थ-लक्ष्य योजना के कारण नये उत्पादन-केन्द्र स्थापित हो जायंगे और दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व के लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को उनके कौशल के साथ-साथ व्यावसायिक साधनों को उन्नत करने में सहायता मिलेगी। इन दोनों कार्यक्रमों का उद्देश्य उत्पादन द्वारा रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना है।

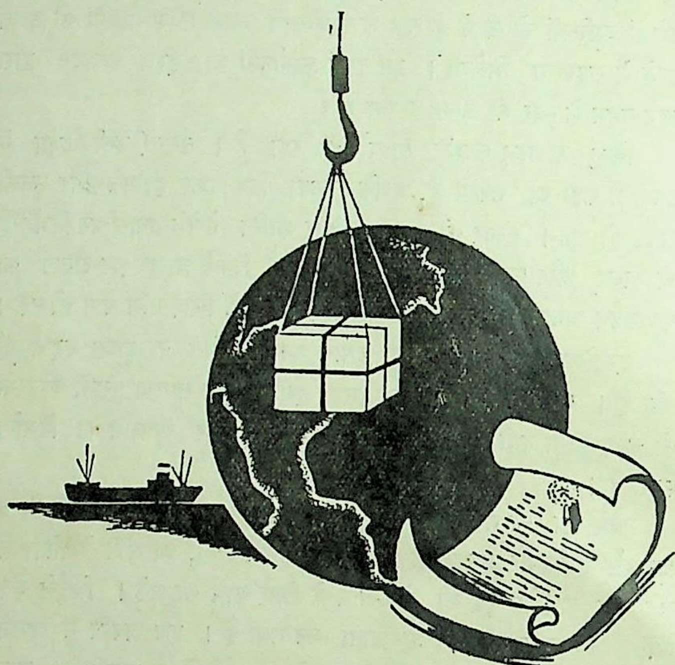
किन्तु उत्पादन कदापि साध्य नहीं रहा है। वस्तुएँ उसी दशा में उपयोगी कही जा सकती हैं, जबकि उनका क्रय-विक्रय हो सके और उनकी खपत हो सके। संसार की सम्पन्नता और शान्ति ऐसे व्यापारों पर निर्भर है जो स्वस्थ और फलने-फूलने वाले हों और जिनके द्वारा धन-दौलत का यथाशक्य अबाध एवं मुक्त प्रसार होकर नई संपत्ति के लिए मांग पैदा हो सके।

इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हमारी आर्थिक नीति का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। यूरोप के पुनर्निर्माण की तरह, हमारी मुख्य समस्या पुरानी व्यवस्था को चालू करना नहीं है, बल्कि एक नई और श्रेष्ठतर व्यवस्था का निर्माण करना है।

अमेरिका की गहरी दिलचस्पी इस बात में है कि वह ऐसी स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-प्रणाली के निर्माण में सहायक हो, जो मंदी से लोहा ले सके और आर्थिक युद्ध की रोक-थाम के लिए कार्य कर सके। पिछले ३६ वर्षों में हमारा राष्ट्र महान् ऋणदाता बन गया है। इस अवधि में हमने बाहर से जितने का माल मंगाया है, उसके मुकाबले में लगभग ५०० अरब रुपये से अधिक मूल्य का माल बाहर भेजा है। यह 'अनुकूल व्यापार संतुलन' कहलाता है, परन्तु आर्थिक मानदंड की कड़ी जांच के आधार पर यह पूर्णतया अनुकूल नहीं है, क्योंकि ५०० अरब रुपये की इस कमी की पूर्ति अमेरिका के लोगों को प्रत्यक्ष करों और ऐसे सरकारी ऋणों से करनी पड़ी, जिनका व्याज भी करों से ही अदा किया जाता है।

किन्तु निर्यात का यह अधिकार हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अनिवार्य है, क्योंकि इसी की वजह से दोनों विश्व-युद्धों में हम अपने मित्रराष्ट्रों को

मदद दे सके हैं और युद्धोत्तर काल में उनके पुनर्निर्माण में सहायक हो सके हैं।



हमारी वर्तमान समस्या विश्व-व्यापार की स्वस्थ और संतुलित प्रणाली को उन्नत करने की है। अमेरिका के पारस्परिक व्यापारिक समझौतों के कार्यक्रम से हमने इस दिशा में यथेष्ट प्रगति की है। इस कार्यक्रम के फलस्वरूप १९२० की ऊंचे तटकर (टैरिफ) वाली नीति में परिवर्तन हो गया है और हम विश्व-व्यापार के निमित्त मार्ग खोलने की अधिक जागृत नीति की राह पर दृढ़तापूर्वक चल पड़े हैं।

पारस्परिक व्यापार समझौता कानून (Reciprocal Trade Agreement Act) के अनुसार अमेरिका १९४७ में जनेवा में संयोजित २२

राष्ट्रों के सम्मेलन में शामिल हुआ, जो इतिहास में तटकर-सम्बन्धी (Tarrif) समझौतों का निर्णय करने का भगीरथ प्रयत्न था। इस सम्मेलन का यह परिणाम हुआ कि तटकर और व्यापार के सम्बन्ध में सभी देशों में एक आम समझौता हुआ, जिसके द्वारा तटकरों में बहुत कमी हो गई और संसार के आधे आयात व्यापार पर इस कमी का प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार का एक और समझौता १९४९ में फ्रांस के अनेसी नामक स्थान पर किया गया जबकि उसमें ११ और नये राष्ट्रों ने भाग लिया। इस सम्मेलन के बाद १९५० में इंगलैंड के टौरक्वे नामक स्थान पर तटकर-सम्बन्धी रियायतें देने के क्रम में एक तीसरा सम्मेलन और हुआ। उस सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रत्येक देश को रियायतें मिलीं तथा उन्होंने रियायतें दीं; और प्रत्येक रियायत जो एक देश को मिली वह उपस्थित सब देशों पर तत्काल लागू कर दी गई। इस प्रकार संसार के स्वतंत्र राष्ट्रों ने व्यापार के मार्ग की एक भयंकर बाधा के विरुद्ध सर्वतोमुखी आक्रमण कर दिया जो सर्वथा अभूतपूर्व था।

किन्तु अभी तो इससे भी अधिक भीषण बाधाओं पर विजय पाना शेष था। आज, यदि कोई अपनी राष्ट्रीय सीमाओं से बाहर जाकर कुछ खरीदने या बेचने का यत्न करता है तो उसे सरकारी नियन्त्रणों, जकात (कस्टम) कानूनों और मुद्रा-सम्बन्धी प्रतिबंधों की उलझनों में भटक जाना होता है। इन प्रतिबंधों के जाल से छुटकारा पाने के लिए समय लगेगा और आदान-प्रदान की भावना की आवश्यकता होगी, क्योंकि जब तक दूसरे देश सशस्त्र बने रहेंगे तब तक कोई भी राष्ट्र अपने आर्थिक-कवचों का परित्याग न करना चाहेगा।

इस कठिन समस्या का अन्तिम समाधान न्यायोचित व्यापारिक परम्पराओं को कानूनबद्ध करने पर ही संभव हो सकेगा। ५४ राष्ट्रों ने एक ऐसे ही नियम को मान लिया है और उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संगठन (International Trade Organisation) के अधिकार-पत्र में भी शामिल कर लिया है। इस अधिकार-पत्र में न्यूनतम नियम निश्चित किये गए हैं, जिन पर अब सभी ५४ राष्ट्रों ने अमल करना स्वीकार कर लिया है। यद्यपि वे आदर्श नियम

नहीं कहे जा सकते, तथापि ज्यों-ज्यों राष्ट्रों को सहयोग की दिशा में अनुभव प्राप्त होगा और उनमें परस्पर विश्वास बढ़ता जायगा त्यों-त्यों उनमें आवश्यक सुधार किये जा सकेंगे।

इस अधिकार-पत्र के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ परिवार के अन्तर्गत एक ऐसे संगठन की व्यवस्था की गई है, जहाँ सदस्य-राष्ट्र मिलकर बैठ सकते हैं और एक गोलमेज़ परिषद् के रूप में अपनी व्यापारिक समस्याएं सुलझा सकते हैं। इससे पूर्व कभी ऐसा सार्वजनिक संगठन देखने में नहीं आया। इस संगठन और उसके अधिकार पत्र से कम-से-कम यह युक्ति-युक्त आशा तो हो ही जाती है कि निकट भविष्य में आर्थिक युद्ध समाप्त किये जा सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन का अधिकार-पत्र इस समय अमेरिकन कांग्रेस के सम्मुख स्वीकृति के लिए प्रस्तुत है। अन्य राष्ट्र इस बात की ओर टकटकी लगाये खड़े हैं कि क्या अमेरिका अपने प्रबुद्ध आर्थिक सिद्धान्तों को कार्यान्वित करके अपनी सदाशयता का परिचय देगा?

जो राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के अधिकार-पत्र का समर्थन करते हैं, उनका विश्वास है कि इसके द्वारा संसार के स्वतंत्र राष्ट्रों में घनिष्ठ राजनीतिक और आर्थिक सहयोग की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो जायगा और इस प्रकार उससे अमेरिका की सुरक्षा में योग मिलेगा।



४

व्यापक स्वातन्त्र्य की ओर

. . . .

प्रेसिडेण्ट ने कहा—"गतिहीनता कभी श्रेयकर नहीं होती, किन्तु हम संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र की अवहेलना करके प्रगति करने की स्वीकृति नहीं दे सकते......।" इस प्रकार अपने 'ट्रुमैन सिद्धांत' (Truman Doctrine) द्वारा राष्ट्रपति ने अमेरिका की नीति के आधार-मूलक सिद्धान्त को संक्षेप में उपस्थित किया।

अमेरिका के लोग कभी भी परिस्थिति में गतिहीनता बनाये रखने के पक्षपाती नहीं रहे हैं। हमारा मुख्य ध्येय सदा से स्वेच्छा द्वारा शांतिपूर्ण उपायों से उन्नति करते हुए स्थिति को बेहतर बनाने की ओर रहा है। स्वतन्त्रता और प्रगति में विश्वास अमेरिकन चरित्र की उल्लेखनीय विशेषता है। अनेक राष्ट्रीय और जातीय धाराओं के सम्मिश्रण से अमेरिका के लोग एक महान् लोकतंत्रीय समाज बनाने का जो परीक्षण कर रहे हैं, उसके पीछे भी यही महान् प्रेरक शक्ति कार्य कर रही है।

'प्रगति' से हमारा क्या अभिप्राय है ? इसकी यदि कोई एक परिभाषा हो सकती है तो वह यह है कि जिस-किसी भी चीज़ से व्यक्ति की प्रतिष्ठा, सम्पन्नता और स्वतन्त्रता में वृद्धि हो, वही प्रगति है। इस अमेरिकन विचार का मूलस्रोत वह महान् उदार क्रान्ति है जिसका सूत्रपात पांच सौ वर्ष से भी पूर्व पश्चिमी यूरोप में हुआ था।

वही क्रान्ति की भावना आज भी हमारी संस्कृति की रूप-रेखा को एक विशेष स्वरूप देने में संलग्न है। जहां कहीं भी जन-समुदाय व्यक्ति के सम्मान

तथा उसके दायित्व की सुरक्षा को प्रतिष्ठित करने में संलग्न पाया जाता है, जिस समाज में मनुष्य अपने जानकारी प्राप्त करने के अधिकारों को एवम् भाषण-स्वातन्त्र्य को अक्षुण्ण रखना चाहता है, जहाँ-कहीं भी वह अपनी शासन-योग्यता की अधिकामना से निरन्तर प्रेरित होता रहता है अथवा उस योग्यता को सम्पादित करने की प्रबल उत्कण्ठा जिस समाज में मनुष्यों के चित्त को बराबर आलोड़ित करती रहती है और जिस समाज में सुन्दरतम एवम् सुखद जीवन बिताने की इच्छा बलवती पाई जाती है अथवा ऐसा जीवन बिताने के लिए अपने आपको ऊँचा उठाने की बेचैनी जहाँ बराबर मनुष्यों के चित्त को आन्दोलित करती रहती है, वहीं-वहीं यह भावना—क्रान्ति की भावना—जीवित रहती है। यही कारण है कि संयुक्त राज्य (अमेरिका) में इस भावना की इतनी प्रतिष्ठा है।

यद्यपि हम कभी-कभी यह बात भूल जाते हैं कि हमारा शान्तिपूर्ण और सम्पन्न समाज एक क्रान्तिकारी समाज है। इस देश में आने वाले विदेशी यात्रियों को बहुधा चकित करने वाली अनेक बातों में से एक यह है कि यहाँ 'श्रेणी-बद्ध समाज' का चिह्न भी दिखाई नहीं देता। हमारे यहाँ न तो 'मजदूर वर्ग' है और न रईसों का आरामतलब फ़िरक़ा। अधिकांश अमेरिकन काम भी करते हैं और अवकाश के समय आनन्द भी। हमारे व्यवसाय हमें विभिन्न श्रेणियां अथवा वर्गों में विभक्त नहीं करते।

बड़ी-बड़ी अमेरिकन मजदूर संघों (ट्रेड यूनियनों) को जनता का आदर प्राप्त है, और वह हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन पर पर्याप्त प्रभाव रखती हैं। विदेशों में जब कभी इन संस्थाओं के सदस्य अमेरीका का प्रतिनिधित्व करते हैं और ऐसा बहुधा हुआ भी करता है, तो उनकी गणना हमारी उदार क्रान्ति के सर्वोत्तम प्रवक्ताओं में की जाती है।

हम अमेरिका निवासियों ने अपने यहाँ जिस प्रकार की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और राजनीतिक प्रजातन्त्रवाद को उन्नत किया है और उसे कार्यान्वित कर रहे हैं, वह संसार के लोगों के द्वारा अब तक नहीं अपनाया गया है। संसार के अनेक भागों में लोगों को अभी तक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विचार से वंचित

रखा जाता है, और कई स्थानों पर इस भावना का विरोध भी किया जाता है। विश्व के लाखों लोगों के लिए तो उन्नति की सम्भावना का अभी प्रभात ही हुआ है। उनमें से अपेक्षाकृत केवल मुट्ठी-भर लोगों को ही अब तक जनतन्त्रवाद के सिद्धांतों अथवा परम्पराओं का थोड़ा-बहुत अनुभव अथवा निजी ज्ञान प्राप्त हो पाया है। समस्त संसार के लिए अभी तो वे सिद्धान्त और परम्पराएं क्रान्तिकारी ही बनी हुई हैं। मानव-जाति में अमेरिका के लोग यद्यपि अल्प-संख्या में हैं, तथापि जहां तक स्वतन्त्रता तथा प्रगति का सम्बन्ध है, वे ही उन्हें सम्भव बनाने वाली उदार क्रान्ति के अगुआ हैं।

अमेरिका की वैदेशिक नीतियां उन क्रान्तिकारी लोकतन्त्री विचारों को अभिव्यक्त करती हैं, जिनका आश्रय लेकर हम जीवित हैं। हम चाहते हैं कि संसार के अन्य लोग भी इन विचारों को समझें और समय पड़ने पर उन्हें भी इन विचारों पर अमल करने का अवसर मिले; उन्हें भी स्वयं शासन करने, अपने विषय में विचार करने, अपने लिए काम करने और अपनी मेहनत का फल माँगने का अवसर मिले।

हम चाहतें हैं कि उन्हें भी प्रजातन्त्रात्मक सिद्धांतों पर अमल करने से प्रात होने वाली प्रतिष्ठा, सम्पन्नता और स्वाधीनता की भावना का अनुभव करने का अवसर प्राप्त हो। जैसा कि हमारे विदेश-मंत्री अचैसन ने कहा है और स्वयं हमारा भी यह विश्वास है कि "संसार के सब लोगों को स्वयं अपने अपने ढंग से उन्नति करने की उतनी ही स्वतन्त्रता होनी चाहिए जितनी कि स्वयं हमें है।

तो फिर किस प्रकार अमेरिका की नीति लोगों को अपने ढंग से उन्नति करने की स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करती है? इस प्रश्न का उत्तर आपको इस परिच्छेद में मिलेगा।

सत्य-प्रचार का आन्दोलन

स्वतन्त्रता की भावना को संसार में फैलाने की हमारी इच्छा के फलवती होने में एक बड़ी बाधा आ उपस्थित होती है। हम अपने इन उदार

विचारों को अन्य राष्ट्रों पर न तो जबरदस्ती लाद ही सकते हैं और न लादेंगे ही। जनसत्तावाद जनसमुदाय पर ज़बरदस्ती नहीं मढ़ा जा सकता; दृढ़ विश्वास और अनुभव के आधार पर ही उसका विकास होता है। उसको तो स्वतः परीक्षण करने के उपरान्त स्वीकार करना चाहिए। जीवन-संबन्धी अन्य बातें चाहे एक बार शक्ति का प्रयोग करके अथवा आतङ्क के मार्ग का अवलम्बन करके लागू की जा सकें, किन्तु जनतन्त्रवाद शक्ति के प्रयोग से अथवा आतंक के द्वारा नहीं पनप सकता। अत्याचार को अज्ञानता से प्रोत्साहन मिलता है किन्तु प्रजातन्त्र तथा स्वतन्त्रता की भावनाएं केवल ज्ञान तथा विवेक के द्वारा ही परिपोषित होती हैं।

अतएव संयुक्त राज्य अमेरिका की नीतियों की सफलता उनकी अपनी उस उपादेयता तथा उपयोगिता पर अवलम्बित है कि कहाँ तक वह जन-समुदाय की अन्तर्तम भावनाओं के अनुकूल हैं और कहाँ तक उसकी अत्यन्त मनोभिलषित आकांक्षाओं और उत्कण्ठाओं की वे पूर्ति कर सकती हैं। उनके इस मूल्याङ्कन को क्रियात्मक रूप में जन-समुदाय के सामने रखने की आज आवश्यकता है; साथ ही उदाहरणों के द्वारा इस पर विश्वास करने के लिए संसार को प्रेरणा देने की तथा लोगों को उसका महत्व बतलाने तथा समझाने की भी आवश्यकता है।

यदि स्वतन्त्रता की भावना का विकास करना है तो संसार में उसके महत्व की घोषणा करनी ही होगी।

दूसरे महायुद्ध के दौरान में अमेरिका की सरकार ने पहली बार अमेरिकन लोकतन्त्र, उसका स्वरूप, उसकी समस्याओं, उसके उद्देश्यों और उसकी सफलताओं का एक पूर्ण और विशुद्ध चित्र संसार के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयास किया था। आज भी अमेरिका का विदेश-विभाग कांग्रेस के आदेशानुसार अन्तर्राष्ट्रीय सूचना और शिक्षा-सम्बन्धी विनिमय के एक व्यापक कार्यक्रम को कार्यान्वित कर रहा है।

विदेशियों के लिए अमेरिका सम्बन्धी जानकारी का कार्य लगभग ५७५ अमेरिकन सार्वजनिक सम्बन्ध अफसरों द्वारा हो रहा है और ये अफसर १५०

कूटनीतिक और कौंसलर मिशनों पर नियुक्त हैं।

'वायस आफ अमेरिका' अर्थात् 'अमेरिका की नभवाणी' शीर्षक से अमेरिका के रेडियो प्रोग्राम ३८ शार्ट वेव ट्रांसमिटरों द्वारा २५ भाषाओं में निरन्तर प्रसारित किये जाते हैं। अनुमानतः लगभग ३० करोड़ व्यक्ति प्रतिदिन इस 'प्रोग्राम' को सुनते हैं।

विदेशों में प्रतिमास १ करोड़ से भी अधिक व्यक्तियों को अमेरिका के परिचयात्मक फिल्म दिखाये जाते हैं।

संसार के ६० देशों में अमेरिका-सम्बन्धी जानकारी के लिए १६४ पुस्तकालय स्थापित हैं, जहाँ प्रतिवर्ष १ करोड़ २० लाख से भी अधिक व्यक्तियों की भीड़ जमा होती है।

अमेरिका की सरकार लेटिन अमेरिका के १८ देशों के सहयोग से ३० सांस्कृतिक केन्द्रों की देखभाल के कार्य में सहायता दे रही है। अमेरिका के सम्बन्ध में जिज्ञासुओं की अपरिमित जिज्ञासा की पूर्ति के लिए, साधारण तथा विज्ञान एवम् व्यवसाय-सम्बन्धी दोनों प्रकार के विषयों पर अमेरिका की पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं, प्रामाणिक लेख और अन्य मुद्रित सामग्री निरन्तर हमारे विदेशी प्रचार-केन्द्रों और पुस्तकालयों को भारी संख्या में पहुँचती रहती हैं।

शिक्षा-प्राप्ति के लिए अमेरिका से अन्य देशों में तथा अन्य देशों से अमेरिका में शिक्षार्थियों के बुलाने व भेजे जाने की योजना यद्यपि अपने शैशव-काल में ही है, तथापि उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही हो रही है। इस ओर किये गए अब तक के साधारण प्रयास का ही यह परिणाम है कि प्रतिवर्ष ६००० व्यक्ति शिक्षा-प्राप्ति के लिए अमेरिका आते हैं तथा यहाँ से अन्यत्र जाते हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय सूचना-प्रोग्राम के कतिपय मुख्य-मुख्य आधार-स्तम्भ हैं।

अभी कुछ ही समय पहले तक अमेरिका की ये कार्यवाहियाँ धन और जन—दोनों ही दृष्टियों से ब्रिटेन और रूस की तुलना में बहुत छोटे पैमाने पर चल रहीं थीं। १६५० के वसन्त में प्रेसिडेण्ट ने विदेश-मंत्री को इस

दिशा में पर्याप्त विस्तार तथा वृद्धि करने की योजनाएं बनाने का आदेश दिया और जुलाई में विदेश-मंत्री अचैसन ने कांग्रेस से चालू वर्ष में इस उद्देश्य के लिए ८ करोड़ ६० लाख डालर की अतिरिक्त मांग की स्वीकृति चाही। इसके अतिरिक्त मांग के लिए स्पष्टीकरण करते हुए श्री अचैसन ने कांग्रेस के समक्ष कहा था—

"गत कुछ वर्षों से 'सोवियत संघ' अपने प्रतिदिन के बढ़ते हुए घृणात्मक एवम् अपमानजनक विश्व-व्यापी मिथ्या-प्रचार द्वारा, अमेरिकन जन-समुदाय तथा अमेरिका की सरकार को बदनाम करने में जुटा हुआ है। कटुता फैलाने वाले इस विषैले प्रचार का मुख्य उद्देश्य यूरोप, एशिया तथा संसार के अन्य देशों के रहने वाले करोड़ों मनुष्यों को यह विश्वास दिला देना है कि संयुक्त राज्य (United States) युद्ध की भावना का पोषक तथा अधिकार लोलुपता से अनुप्राणित एक शक्ति का पुजारी राष्ट्र है, जो सर्वत्र अपना ही प्रभुत्व कायम करना चाहता है, और दूसरों के दमन में जिसे आन्तरिक सुख की प्राप्ति होती है।"

यद्यपि यह आरोप बिलकुल निराधार है और सत्य से सर्वथा भिन्न, तथापि 'क्रेमलिन' इस कुकृत्य से बाज़ नहीं आ रहा। अमेरिका पर किया गया यह मिथ्या-आरोप रूपी प्रहार बुद्धिवाद के विरुद्ध किये गए 'कम्युनिस्ट प्रहारों' की सर्वविदित शैली का ही उग्र-रूप है। मनुष्यों को ग़ुलाम बनाने के पूर्व, उनके हृदय में विष उँड़ेलकर उनके चित्त को विचलित कर देना ही उनकी इस योजना का मुख्य ध्येय है।

जब तक कि संसार-भर के स्वतन्त्रता के पुजारी स्त्री-पुरुषों की सद्भावनाओं को शीघ्र ही सिद्धान्तों पर हो रहे इन आक्रमणों के विरोध में संघटित न किया जायगा तो संभव है स्वतन्त्रता की भावना का ही नाश हो जाय।

एक अन्य अवसर पर विदेश-मंत्री ने कहा था—"हम क्या करते हैं, क्यों करते हैं और किस तरह से करते हैं आदि प्रश्नों से सम्बन्ध रखने वाले तथ्य विदेश-सम्बन्धों के आवश्यक अंग हैं। विदेश-सम्बन्धी मामलों में हम जो भी कदम उठाते हैं, उस पर इन बातों का गहरा प्रभाव पड़ता है।" "इस सत्य-

प्रचार का एक मात्र उद्देश्य" जैसा कि राष्ट्रपति ने कहा था, "इन तथ्यों को सरलता एवम् विशदता के साथ संसार के सभी राष्ट्रों के सम्मुख उनके विवेकपूर्ण नैतिक निर्णय के लिए प्रस्तुत करना है।"

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता

एक ऐसा सत्य, जिसके बारे में स्वयं हमें पूरा यक़ीन है और जिसके बाबत हम संसार के अन्य लोगों को यक़ीन दिलाना चाहते हैं, यह है कि अमेरिकन लोकतंत्रवाद उदार और प्रगतिशील है, अमेरिका की नीति स्वतन्त्रता के लिए एक महान् शक्ति है।

इस सत्य का एक उदाहरण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के प्रति अमेरिका के दृष्टिकोण में देखा जा सकता है। हम अनुभव से यह भली-भाँति जानते हैं कि स्वाधीनता स्वातन्त्र्य और प्रतिष्ठा की कुञ्जी है। इसके द्वारा लोकप्रिय स्वशासन के द्वार खुल जाते हैं—चाहे इसके द्वारा प्रजातन्त्री अधिकारों और विशेष सुविधाओं को भले ही एक बार आश्वासन नहीं मिले।

निश्चय ही हम यह बात स्वीकार करते हैं कि इस समय सभी लोग स्वाधीनता और स्वशासन की ज़िम्मेदारियों को संभालने को तैयार नहीं हैं, लेकिन हम इस बात का अवश्य समर्थन करते हैं कि अपनी प्रगति के लिए सभी को प्रयास करने का अधिकार और योग्यता है। जहाँ-कहीं स्वाधीनता आन्दोलन को जनता का ज़ोरदार समर्थन प्राप्त होता है, वहाँ-वहाँ हमारी प्रवृत्ति संदिग्धावस्था का लाभ उनको प्रदान करने की रही है।

इस अमेरिकन दृष्टिकोण की एक नैतिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि भी है। जैसा कि विदेशमंत्री अचैसन ने कहा था—"सच्चाई तो यह है कि जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति और कोई भी सरकार किसी दूसरे व्यक्ति के कार्य और उसकी विचार शक्ति का निर्देश करने के लिए पर्याप्त बुद्धिमान् और पर्याप्त निरपेक्ष नहीं है उसी प्रकार कोई भी राष्ट्र और कोई भी व्यक्ति बहुत समय तक किसी दूसरे राष्ट्र की जिम्मेदारियों को सम्भालने अथवा दूसरे लोगों को प्राप्त होने वाले सुअवसरों पर नियन्त्रण रखकर उनसे लाभ उठाने के लिए

काफी बुद्धिमान् और निरपेक्ष नहीं हो सकता।"

कुछ अमेरिकनों को इस बात से परेशानी है कि जिन राष्ट्रों को हमने उनकी स्वाधीनता स्थापित करने और उन्हें कायम रखने में मदद दी है, उनमें से सबके यहाँ प्रतिनिधित्वपूर्ण सरकार नहीं अथवा उनके यहाँ ऐसी लोकतंत्र-वादी प्रणाली पर अमल नहीं किया जा रहा, जिसकी कल्पना हम करते हैं। इससे स्वभावतः एक प्रश्न यह उठता है कि जब हम 'स्वतन्त्र' राष्ट्र और 'स्वतन्त्र' जनता शब्दों का प्रयोग करते हैं, तो उनसे हमारा क्या अभिप्राय होता है? इस प्रश्न को स्पष्ट करना आवश्यक है, क्योंकि इसी के कारण अमेरिकन नीति के सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रम फैला हुआ है।

एक 'स्वतन्त्र' देश वह है, जिसे किसी विदेशी सरकार के आदेशों पर नहीं चलना पड़ता। हमारा यह विश्वास है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता लोकप्रिय सरकार और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए एक सीढ़ी है। हम ऐसे राष्ट्रों की स्वाधीनता को भी बड़ा महत्व देते हैं जो किसी भी रूप में लोकतंत्रात्मक शासन द्वारा शासित नहीं होते।

यदि हम किसी देश को विदेशी प्रभुत्व से मुक्ति प्राप्त करने में मदद देते हैं तो उसका यह अर्थ नहीं है कि हम उस देश की तत्कालीन सरकार का समर्थन करते हैं। इसका अर्थ यह है कि हम एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समाज का निर्माण करना चाहते हैं, जिसमें प्रत्येक राष्ट्र को स्वतः अपनी समस्याओं का निराकरण करने की स्वतन्त्रता होगी, बशर्ते कि वह संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र की प्रतिज्ञाओं और ज़िम्मेदारियों के अनुरूप आचरण हो। घोषणा-पत्र के व्यापक क्षेत्र के अन्तर्गत इस बात की काफ़ी गुञ्जाइश है कि यदि लोग चाहें तो इस दिशा में परीक्षण कर सकते हैं और अपनी सरकार का स्वरूप बदल सकते हैं—जिसका तात्पर्य है कि प्रजातन्त्र की दिशा में प्रगति करने की भी काफ़ी गुञ्जाइश हो जाती है।

गत कुछ वर्षों की घटनाओं से अमेरिका को यह साबित करने का अवसर मिला था कि वह अब भी नये राष्ट्रों का परम्परागत मित्र है और जो लोग स्वाधीनता-प्राप्ति की चेष्टा कर रहे हैं, उनके अधिकारों का पोषक और

समर्थक है। दूसरे विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद से ५० करोड़ से भी अधिक लोगों ने स्वतन्त्रता प्राप्त की है; आठ नये राष्ट्रों का जन्म हुआ है। अमेरिका ने यथासंभव इन राष्ट्रों को उनके जन्मकाल में सहायता दी है। उसने संयुक्त राष्ट्र संघ में उनकी सदस्यता का ज़ोरदार समर्थन किया है।

फिलिपाइन्स में हमें यह प्रदर्शित करने का सर्वोत्तम अवसर मिला है कि हम जिस नीति के समर्थक हैं उसका पालन भी करते हैं। हमारे वचन देने और उस पर दृढ़ रहने के फलस्वरूप ४ जुलाई १९४६ को उन द्वीपों के दो करोड़ नागरिकों ने बड़ी धूमधाम से अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति का पर्व मनाया। इसके अतिरिक्त राष्ट्रों के संघ में हमने न केवल उनका हार्दिक स्वागत ही किया, बल्कि उन्हें उनके स्वतन्त्र समाज के संगठन के लिए धन की सहायता के द्वारा सहयोग भी दिया।

भारत, पाकिस्तान, ब्रह्मदेश और लंका की हम ज़ोरदार एवं मित्रतापूर्ण सहायता कर रहे हैं। इजराइल के लोगों को राष्ट्र स्थापित करने के संघर्ष में आरम्भ से ही अमेरिका की नैतिक और आर्थिक सहायता प्राप्त है।

इण्डोनेशिया में गण-राज्य की स्थापना का श्रेय अमेरिका को है। हॉलैण्ड और इण्डोनेशिया की सरकारों के बीच समझौते की जो लम्बी और जटिल बातचीत चल रही थी, उसको सुलझाने और कभी-कभी उभय पक्ष को एक-दूसरे के अधिक निकट लाने तथा निर्णयात्मक रूप से समझौता कराने में अमेरिकन कूटनीति ने एक महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

चीनी जन-समुदाय की अग्नि-परीक्षा

संसार में स्वाधीनता और स्वतन्त्रता के समर्थन में हम भले ही कितने ही शक्तिशाली एवं दृढ़-प्रतिज्ञ क्यों न हों, हमारी अमेरिकन नीति का स्थानीय परिस्थितियों के निर्माण में कोई विशेष हाथ नहीं होता। अमेरिका के दीर्घ-कालीन हितों को दृष्टिगत रखते हुए, हमारे कार्य कितने ही बुद्धिमत्तापूर्ण तथा सम्मान-प्रद क्यों न हों, यह आवश्यक नहीं कि हम सदा सफल ही हों।

हम अमेरिकी एक बार और अनेक बार यह सीख चुके हैं कि हमारे

पास उन लोगों की स्वाधीनता की रक्षा कर सकने के लिए कोई जादू तो है नहीं, जो स्वयम् अपनी स्वाधीनता के लिए काम करने और लड़ने के लिए तैयार नहीं। जहाँ स्वाधीनता के लिए लोह-धारणा विद्यमान हो, वहाँ अमेरिकन सहायता और समर्थन सफलता का एक महत्वपूर्ण और बहुधा निर्णायक कारण भी बन सकता है। भले ही यद्यपि नाजियों ने यूनान की जनता की इस भावना को नष्ट करने की हर संभव चेष्टा की थी किन्तु वह दृढ़ निश्चय यूनान के लोगों में विद्यमान था, परन्तु चेकोस्लोवाकिया में यह दृढ़ निश्चय स्थिर न रह सका। चीन की जनता में से यह भावना असह्य कष्टों और निराशाओं के कारण जाती रही, जिसके फलरूप उन्हें उग्र-उपायों को खोजना और स्वीकार करना पड़ा।

१६४५ में, जब चीनी जनता जापानी विजय की अग्निपरीक्षा में से उत्तीर्ण हुई तो वह चीन में परिवर्तन और सुधार के लिए दृढ़-निश्चयी थी। उस समय अधिकांश प्रदेश पर नेश्नलिस्ट सरकार का अधिकार था। उसे अमेरिका से प्रचुर मात्रा में सहायता मिल रही थी और उसे जनरल मार्शल का विवेकपूर्ण परामर्श भी उपलब्ध था। इसके अतिरिक्त उसे बड़े-बड़े राष्ट्रों का कूटनीतिक समर्थन भी प्राप्त था। इन सब लाभों के होते हुए भी नेशनलिस्ट सरकार चीनी जनता की राजभक्ति खो बैठी, क्योंकि उसने उस समय उपलब्ध सहायता, समर्थन और परामर्श से लाभ उठाकर अपने नेतृत्व के लिए जनता में विश्वास उत्पन्न नहीं किया।

ऐसी थी वह परिस्थिति, जिससे साम्यवाद को आमंत्रण मिला। नेशनलिस्ट सरकार छिन्न-भिन्न हो गई और उसकी सेनाएं अस्त-व्यस्त हो गईं। चीनी साम्यवादियों ने इस रिक्त स्थान की पूर्ति करके देश पर अधिकार कर लिया।

चीन को साम्यवाद से बचाने का केवल एक ही उपाय था, और वह यह कि अमेरिकन सेनाओं को नेश्नलिस्ट सरकार की ओर से चीन में पूरी तरह से हस्तक्षेप करने का अधिकार दे दिया जाता। उस समय चीनी राष्ट्रवादियों और चीनी साम्यवादियों में घरेलू संघर्ष खुलकर चल पड़ा था।

उस दशा में हम चीन में हस्तक्षेप करते तो उसका यह अर्थ होता कि हम अपने इतिहास की रूपरेखा को और साथ ही चरित्र को बदल देते और अपने सिद्धान्तों की हत्या करके अपने उज्ज्वल नाम पर धब्बा लगाकर पराजय का खतरा मोल ले लेते। इसका एक परिणाम यह भी होता कि एशिया के लोग अमेरिका को साम्राज्यवादी शक्ति समझने लग जाते। इससे अमेरिका चीन के साथ एक ऐसे युद्ध में फंस जाता जिससे न तो वास्तविक शान्ति मिलती और न विजय।

चीनी जनता ने समय-समय पर अपने विजेताओं को अपने यहाँ खपाकर और समाप्त करके उनके चंगुल से मुक्ति प्राप्त करने की अपनी शक्ति का बारम्बार परिचय दिया है। क्या समय आने पर वे रूसी प्रभुत्व से भी अपने को मुक्त करा सकेंगे? जो लोग चीन को खूब अच्छी तरह से जानते और समझते हैं, उनका दृढ़ विश्वास है कि अन्ततोगत्वा चीनी जनता की परम्परागत स्वाभिमान और स्वतन्त्र प्रकृति की भावना चीन पर प्रभुत्व स्थापित करने की हर विदेशी कोशिश पर विजय प्राप्त करेगी और यही बात वर्तमान परिस्थिति के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यह निर्णय ठीक निकले या ग़लत, लेकिन यह चीन के भीतर और बाहर की बहुत-सी परिस्थितियों पर निर्भर है। यह बात इस पर निर्भर है कि एशिया के अन्य राष्ट्रों के लोग साम्यवाद के बढ़ते हुए दबाव के आगे कितनी दृढ़ता के साथ अपनी स्वाधीनता की रक्षा करते हैं। यह इस पर भी निर्भर होगा कि हम उनकी कितनी सहायता करते हैं और अमेरिका के उदाहरण पर भी निर्भर होगा जिसका परिचय हमने कोरिया में दिया है। अन्त में, यह इस पर निर्भर करेगा कि संयुक्त राष्ट्र संघ शान्ति के लिए पैदा होने वाले खतरों का कितनी तेज़ी और दृढ़ता से सामना करता है।

यदि हम यह खयाल करें कि केवल अमेरिका की नीति ही चीन की जनता को मुक्ति दिला सकती है अथवा समस्त एशिया के देशों में स्वाधीनता और स्वतन्त्रता की प्रगति का भरोसा दे सकती है तो हम अपने को धोखे में रखेंगे। हम स्वयं अपनी प्रबुद्ध इच्छा से एक ऐसे महान् सहकारी संगठन

के अंग बने हैं जो शान्ति की रक्षा के लिए संसार के सभी स्वतंत्र राष्ट्रों की शक्ति का संगठन करने का प्रयास कर रहा है। हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य उस मिले-जुले संगठन को सुदृढ़ बनाना है, उसे एकता के सूत्र में आबद्ध करना है, तथा लोगों के दिलों में असंदिग्ध रूप से यह विश्वास बैठाना है कि हमारा यह संगठन संसार में स्वाधीनता और प्रगति के लिए उदार क्रान्ति का अग्रणी है। यही हमारा दीर्घकालीन उद्देश्य है जो संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र में कहा गया है। हम एक स्वतंत्र समुदाय के सदस्य हैं और हमारा ध्येय सहकारिता है।

कोरिया की समस्या

चार बड़े राष्ट्रों—अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और चीन—ने कोरिया को पुनः स्वतन्त्रता दिलाने की दृढ़ प्रतिज्ञा की थी और यह प्रतिज्ञा आज भी ज्यों-की-त्यों क़ायम है। चूँकि रूस ने प्रतिज्ञा-भंग की, इसलिए कोरिया की स्वतंत्रता का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ के लिए समस्या बन गया।

हम कोरिया को संयुक्त और स्वतन्त्र राष्ट्र बनाने के वचन पर आज भी आरूढ़ हैं। हमने अपने वचन की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा और स्वयम् निजी तौर पर भी कोशिश की है। जब रूस ने उत्तरी कोरिया का संपर्क समस्त बाहरी संसार से काट दिया और यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र संघ के कमीशन को भी वहाँ न जाने दिया तो हमने दक्षिण कोरिया में अपने उद्देश्य की पूर्ति की, क्योंकि वहाँ हमारी पहुँच थी। हमारी सहायता से दक्षिण कोरिया के लोगों ने अपने इतिहास में पहली बार अपने यहाँ एक प्रजातंत्रात्मक और प्रतिनिधित्वपूर्ण सरकार की स्थापना की और उसे संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाये जाने के लिए आवेदन-पत्र भी भेजा।

इसके अलावा हमने कोरिया की जनता के सहयोग से वहाँ सहायता और पुनर्निर्माण के एक व्यापक कार्यक्रम का भी बीड़ा उठाया। कोरिया पर बहुत दिनों तक जापानी प्रभुत्व बना रहा था और वह उसका शोषण भी करता रहा था, इस लिए कोरिया की तात्कालिक आवश्यकता स्वतन्त्र होने के उपरान्त देश का

शासन चलाने और उद्योगों का संचालन करने के लिए कुशल व्यक्तियों की थी। जापानी प्रभुओं के कब्ज़े से कोरिया को मुक्त कराने के बाद पहले तो हमारी सेना ने वहाँ टेक्निकल ट्रेनिंग कार्यक्रम के लिए व्यवसायी स्कूलों का संगठन किया और फिर बाद में यह काम आर्थिक सहयोग संस्था (Economic Cooperation Administration) ने अपने हाथ में ले लिया। हमारी आर्थिक सहायता का अधिकांश भाग खाद्य, रासायनिक खाद, कच्चा माल और डाक्टरी सामान के रूप में था और १९५० के अन्त तक हम कोरिया में आर्थिक सहायता के काम पर ५० करोड़ डॉलर से भी अधिक खर्च कर चुके थे। अन्त में हमने कोरिया के लोगों को सैनिक सहायता और इस प्रकार की ट्रेनिंग भी दी जिससे कि वे अपने देश में व्यवस्था बनाये रखने में समर्थ हो सकें तथा अपनी सीमाओं की देखभाल कर सकें। १९५० में वहाँ कोयला-उद्योग और विद्युत-शक्ति को उन्नत करने की योजनाएं बन रही थीं।

ठीक उसी समय साम्यवादियों ने कोरिया पर एक बड़े पैमाने पर धावा बोल दिया और उस नव-जात राष्ट्र का जीवन-प्रदीप बुझाने में उन्होंने कुछ कसर नहीं छोड़ी किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

कोरिया का करुणाजनक मामला इस बात का साक्षी है कि जो नव-जात छोटे-छोटे राष्ट्र लुटेरी ताक़तों के पड़ोस में रहते हुए अपना स्वतन्त्र जीवन बिताने की कोशिश करते हैं, उनकी क्या दुर्दशा होती है। इससे छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों के सामने यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो जाता है कि विश्व की सुरक्षा का एकमात्र स्वरूप 'सामूहिक सुरक्षा' है और शान्ति-स्थापना का एकमात्र साधन अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के व्यवस्था प्रेमी और शिष्ट सदस्यों के शक्तिशाली सामूहिक प्रयत्नों पर अवलम्बित है।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने ऐसा ही प्रयत्न हाथ में लिया है। इसके ५३ सदस्यों ने घोषणा-पत्र की प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए शीघ्रता एवं स्वतन्त्रता पूर्वक इस चुनौती का प्रत्युत्तर दिया। वे सहर्ष सुरक्षा परिषद् की सिफारिशों के अनुकूल कार्य करने को प्रस्तुत हो गए। यह परिषद् का आदेश न था।

२७ जून, १९५० को जबकि प्रेसिडेण्ट ट्रूमैन ने अमेरिकन सेनाओं को

तुरन्त ही कोरिया में कार्यवाही करने का आदेश दिया तो उन्होंने साथ ही अमेरिका के सातवें समुद्री बेड़े को फारमोसा द्वीप पर भी आक्रमण की रोक-थाम करने का आदेश दिया। इस द्वीप में चीनी राष्ट्रवादी नेताओं और उनकी सशस्त्र सेनाओं ने शरण ले रखी थी। यह द्वीप चूंकि चीन का एक भूतपूर्व प्रदेश है, इसलिए चीनी साम्यवादियों की आँखें इस पर लगी हुई हैं और वास्तव में वे सार्वजनिक रूप से यह घोषणा भी कर चुके हैं कि हम इस पर आक्रमण करके अपना अधिकार करना चाहते हैं।

प्रेसिडेण्ट ने इस दौरान में कहा था "फारमोसा को युद्ध में तटस्थ रखने की इस कार्यवाही पर हमारी प्रारंभिक सुरक्षा अवलम्बित है। हमारा प्रधान उद्देश्य इस द्वीप पर साम्यवादी आक्रमण को रोकना है।" और जैसा कि प्रेसिडेण्ट ने १६ जुलाई को कांग्रेस के सामने इस स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि "यदि इस द्वीप पर आक्रमण की रोक-थाम न की गई होती तो इससे कोरिया का संकट और भी अधिक बढ़ जाता और हमारे लिए कोरिया में संयुक्त राष्ट्र संघ की जिम्मेदारियों को निभाना बहुत कठिन हो जाता।"

रूसी और चीनी साम्यवादियों ने अमेरिका पर फारमोसा में 'आक्रमण' करने का आरोप लगाया और यह मामला सुरक्षा-परिषद् में भी पेश किया। अमेरिका ने इस मामले में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जाँच-पड़ताल करने के सुझाव का स्वागत किया और वास्तव में उसने फारमोसा में संयुक्त राष्ट्र संघ का एक कमीशन भेजने का भी सुझाव रखा, जो वहाँ जाकर स्थिति का प्रेक्षण करने के बाद वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डाले।

इस उद्देश्य से कि देश के भीतर और विदेशों में लोग अमेरिका की नीति को स्पष्ट रूप से समझ सकें प्रेसिडेण्ट ने १ सितम्बर १६५० को अपने एक रेडियो भाषण में हमारे उद्देश्यों और आकांक्षाओं पर संक्षेप में इस पर प्रकाश डाला था :—

"पहला, हमारा संयुक्त राष्ट्र संघ में दृढ़ विश्वास है। जब हमने इसके घोषणा-पत्र को स्वीकार किया तो हमने इस विश्व-संगठन के द्वारा शान्ति और सुरक्षा प्राप्ति की प्रतिज्ञा की। दो महीने पूर्व जब हम कोरिया में संयुक्त

राष्ट्र संघ की सहायता के लिए गये, तो हम अपने वचन पर स्थिर थे। हम अब भी उस प्रतिज्ञा से कभी नहीं फिरेंगे।

"दूसरा, हमारा विश्वास है कि कोरिया के लोगों को अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र, स्वाधीन और सुसंगठित होने का पूर्ण अधिकार है। संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्देशन और पथ-प्रदर्शन में हम अन्य राष्ट्रों के साथ मिलकर, कोरिया वालों को उनका यह अधिकार दिलाने में अपने दायित्व के अनुसार मदद देने को तैयार हैं। अमेरिका का कोरिया में इससे भिन्न कोई और उद्देश्य नहीं है।

"तीसरा, हम यह नहीं चाहते कि कोरिया का यह युद्ध फैलकर विश्वव्यापी युद्ध का रूप धारण कर ले। ऐसा होना उस समय तक संभव भी नहीं है, जब तक कम्यूनिस्ट साम्राज्यशाही, अन्य राष्ट्रों की शक्ति को संयुक्त राष्ट्र संघ के विरोध में युद्ध में झोंककर स्वयम् बतौर आक्रांता के पहला क़दम न उठायगा।

"चौथा, हम विशेष रूप से यह आशा करते हैं कि चीनी जनता को संयुक्त राष्ट्र संघ अथवा अमेरिका के लोगों के विरुद्ध जो कि हमेशा से उनके मित्र रहे हैं, और अब भी हैं, गुमराह नहीं किया जायगा अथवा लड़ने पर विवश नहीं किया जायगा। चीन के युद्ध में कूदने से केवल कम्यूनिस्ट साम्राज्यशाही का हित-साधन होगा, जिसने कि पहले से ही चीन को छिन्न-भिन्न करना शुरू कर दिया है।

"पाँचवां, हम फारमोसा अथवा एशिया का कोई भी भाग अपने लिए नहीं चाहते। हमारा यक़ीन है कि अन्य किसी भी विवादास्पद प्रदेश की भांति फारमोसा के भविष्य का निर्णय भी शान्तिपूर्वक उपायों से होना चाहिए। हमारा यह भी यक़ीन है कि इसका फ़ैसला केवल अमेरिका अथवा किसी अन्य देश के निर्णय के ज़रिये न होकर किसी अन्तर्राष्ट्रीय योजना के अनुसार होना चाहिए। सातवें बेड़े का प्रधान उद्देश्य (मिशन) फारमोसा को संघर्ष के क्षेत्र से अलग रखना है। हमारा उद्देश्य विजय न होकर शान्ति है।

"छठा, हम सुदूरपूर्व के सभी राष्ट्रों की स्वतन्त्रता में दृढ़ विश्वास

रखते हैं। यह भी एक कारण है, जिससे प्रेरित होकर हम कोरिया की स्वतन्त्रता के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के झंडे के नीचे लड़ रहे हैं। हमने फिलिपाइंस के स्वतन्त्र होने में सहायता दी और हमने राष्ट्रीय स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए अन्य एशियाई देशों की आकांक्षाओं का भी समर्थन किया है। रूस ने सुदूरपूर्व के जिस प्रदेश पर भी अधिकार किया है उसका उसने स्वेच्छा से कभी परित्याग नहीं किया; जो भी राष्ट्र उसके प्रभुत्व का शिकार हुआ है, उसे उसने कभी स्वाधीनता प्रदान नहीं की। हम एशिया के लोगों को न केवल स्वाधीनता दिलाना चाहते हैं, बल्कि हम उनकी इसलिए भी मदद करना चाहते हैं कि वे अधिक स्वस्थ बनें, उन्हें खाने के लिए पर्याप्त खाद्य, पहनने के लिए कपड़ा और रहने के लिए घर मिलें, और शान्तिपूर्वक जीवन बिताने का अवसर प्राप्त हो। एशिया के लोगों के लिए हम जो कुछ चाहते हैं, वही हम शेष संसार के लोगों के लिए भी चाहते हैं।

"सातवां, हमारा विश्वास न तो आक्रमणात्मक युद्ध में है और न युद्ध के रोकने के लिए युद्ध से है। ऐसे युद्ध अमेरिका जैसे स्वतंत्र और प्रजातंत्रात्मक देशों के युद्ध न होकर तानाशाहों के हाथों को मजबूत करते हैं। हम केवल आक्रमण के विरुद्ध आत्म-रक्षा के लिए सशस्त्र हो रहे हैं। भले ही कम्यूनिस्ट साम्राज्यशाही का शान्ति में कोई यकीन न हो, उसे नये आक्रमण से निरुत्साहित किया जा सकता है, बशर्ते कि हम और अन्य स्व ंत्र राष्ट्र शक्तिशाली, सुदृढ़, दृढ़-निश्चयी और सुसंगठित बने रहें।

"आठवां, हम शान्ति के इच्छुक हैं और निश्चय ही हम उसे प्राप्त करेंगे। आज हमारे सैनिक कोरिया में शान्ति के लिए ही लड़ रहे हैं। हम संयुक्त राष्ट्र संघ और संसार की सभी राजधानियों में शान्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं। हमारे मजदूर, हमारे किसान, हमारे व्यापारी, हमारे सभी व्यापक साधन इस समय ऐसी ही शक्ति के निर्माण में संलग्न हैं, जिससे शान्ति सुरक्षित हो सकेगी।"

मनुष्य के अधिकार

संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले सभी राष्ट्र मानव अधिकारों और मौलिक स्वतंत्रताओं का आदर करने और उन्हें प्रोत्साहन देने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं। परन्तु घोषणा-पत्र में उन अधिकारों और स्वतंत्रताओं की कोई परिभाषा नहीं की गई थी। इसलिए, संयुक्त राष्ट्र संघ का सर्वप्रथम काम उन शब्दों के तात्पर्य के सम्बन्ध में, सदस्य-राष्ट्रों की स्वीकृति से एक साधारण समझौता करना था। व्यावहारिक रूप में इस प्रकार का समझौता घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले सभी राष्ट्रों के सच्चे व निष्कपट दृढ़ विश्वासों और उद्देश्यों की अभिव्यक्ति होगा। संक्षेप में, इस समझौते को एक पवित्र आशा का प्रतीक मात्र न होकर दृढ़ विश्वास का एक अभिवक्ता होना चाहिए था।

अमेरिका ने ऐसे समझौते के लिए जी-जान से प्रयत्न किया। अमेरिकन ंगठनों ने इसका जोरदार समर्थन किया और हमारी अध्यक्षा श्रीमती फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट ने मानव-अधिकार-कमीशन द्वारा इसकी प्रगति का प्रथ-प्रदर्शन किया और १६४८ में जनरल असेम्बली ने प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार-घोषणा पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी।

इस दिशा में अगला काम घोषणा-पत्र में उल्लिखित सिद्धांतों को विभिन्न राष्ट्रों के संविधानों और कानूनों का अंग बनाकर व्यावहारिक रूप में क्रियान्वित करना है। यह अनेक वर्षों में पूरा किये जाने वाला कार्य है। लेकिन आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council) ने मानव अधिकार-संधियों अथवा समझौतों का मसविदा तैयार करना शुरू कर दिया है। जो राष्ट्र इन समझौतों पर हस्ताक्षर करेंगे उन्हें अपने नागरिकों को कुछ बुनियादी अधिकार देने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। प्रत्येक समझौते में विशिष्ट राष्ट्र की विशिष्ट समस्याओं के साथ-साथ उसकी कानूनी व्यवस्था और कानून भंग करने वालों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार को दृष्टि में रखा जायगा।

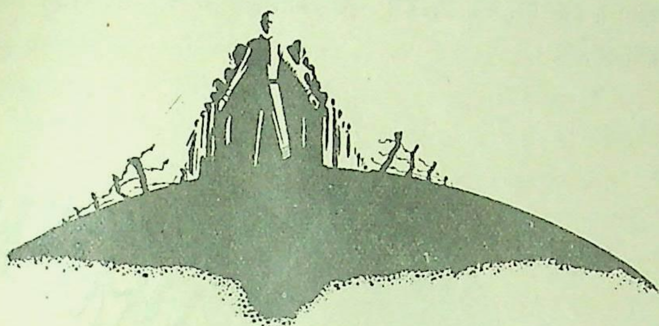
मानव अधिकार-सम्बन्धी समझौतों का मसविदा तैयार करने का काम

निःसंदेह एक बड़ा साहसपूर्ण और अत्यधिक कठिन काम है, जिसकी कल्पना इससे पूर्व, राष्ट्रों के एक समूह ने कभी नहीं की होगी। सम्भवतः इतिहास इस बात का साक्षी रहेगा कि बिना किसी प्रकार का राग अलापे, और बिना प्रसिद्धि के गीत गाये पूर्ण शान्तिभाव से चुपचाप किया गया यह काम संयुक्त राष्ट्र संघ का एक महान् क्रान्तिकारी कार्य समझा जायगा।

'सामूहिक नरहत्या' (Genocide) का अथवा किसी देश की जनता के विशिष्ट समूहों व वर्गों के सामूहिक वध का जैसा कि नाज़ी जर्मनी द्वारा सरकारीं तौर पर किया जाता था, निषिद्ध घोषित करना संयुक्त राष्ट्र संघ का एक दूसरा महान कार्य है। १९४८ में जनरल असैम्बली ने सर्वसम्मति से एक समझौते की स्वीकृति दी थी जिसके अन्तर्गत सभी सदस्य राष्ट्रों ने 'सामूहिक नरहत्या' को एक भारी अपराध स्वीकार करने और ऐसे अपराधियों को तदनुसार सज़ा देने की प्रतिज्ञा की थी। अब यह संधि कार्यरूप में परिणत किये जाने के लिए प्रस्तुत की गई है।

मानव-अधिकारों में हमारी दिलचस्पी केवल संधियाँ तथा घोषणाएं करने तक ही सीमित नहीं है। समाचार-संवाहन की स्वाधीनता, लोगों को आने-जाने की स्वाधीनता, ज्ञान के स्वतंत्र और निर्बाध विनिमय की स्वतन्त्रता जैसी ठोस चीज़ों के लिए भी हम प्रयत्नशील हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ अपनी शैक्षिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठनों तथा अन्य विशिष्ट संस्थाओं द्वारा इन दिशाओं में ठोस प्रगति के अनेक मार्ग प्रस्तुत कर रहा है।

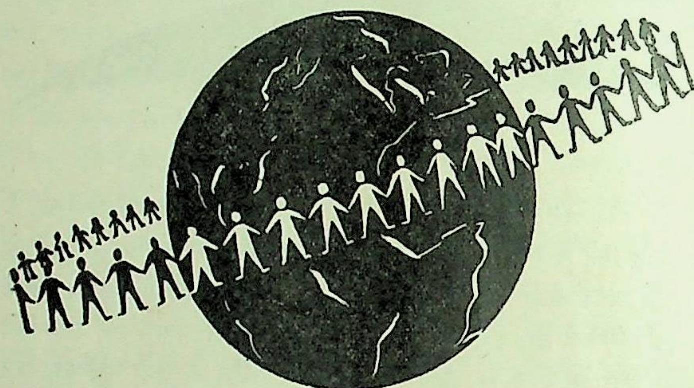
संसार में विचारों का एक उफ़ान पैदा करने की कोई आवश्यकता नहीं है; वह तो पहले से ही विद्यमान है। आवश्यकता तो इस बात की है कि स्वाधीनता और प्रगति के इन विचारों को व्यावहारिक रूप में परिणत किया जाय, अर्थात् इनके द्वारा लोगों का स्वास्थ्य अच्छा बन सके, उनके पोषण की उत्तम व्यवस्था हो सके, उन्हें रहने के लिए अच्छे घर मिल सकें और उनके लिए स्कूलों की सुन्दर व्यवस्था हो; संक्षेप में, उन्हें अच्छा जीवन व्यतीत करने का अवसर मिल सके। यह कार्य केवल संयुक्त राष्ट्र संघ ही अत्यन्त खूबी के साथ कर सकता है।



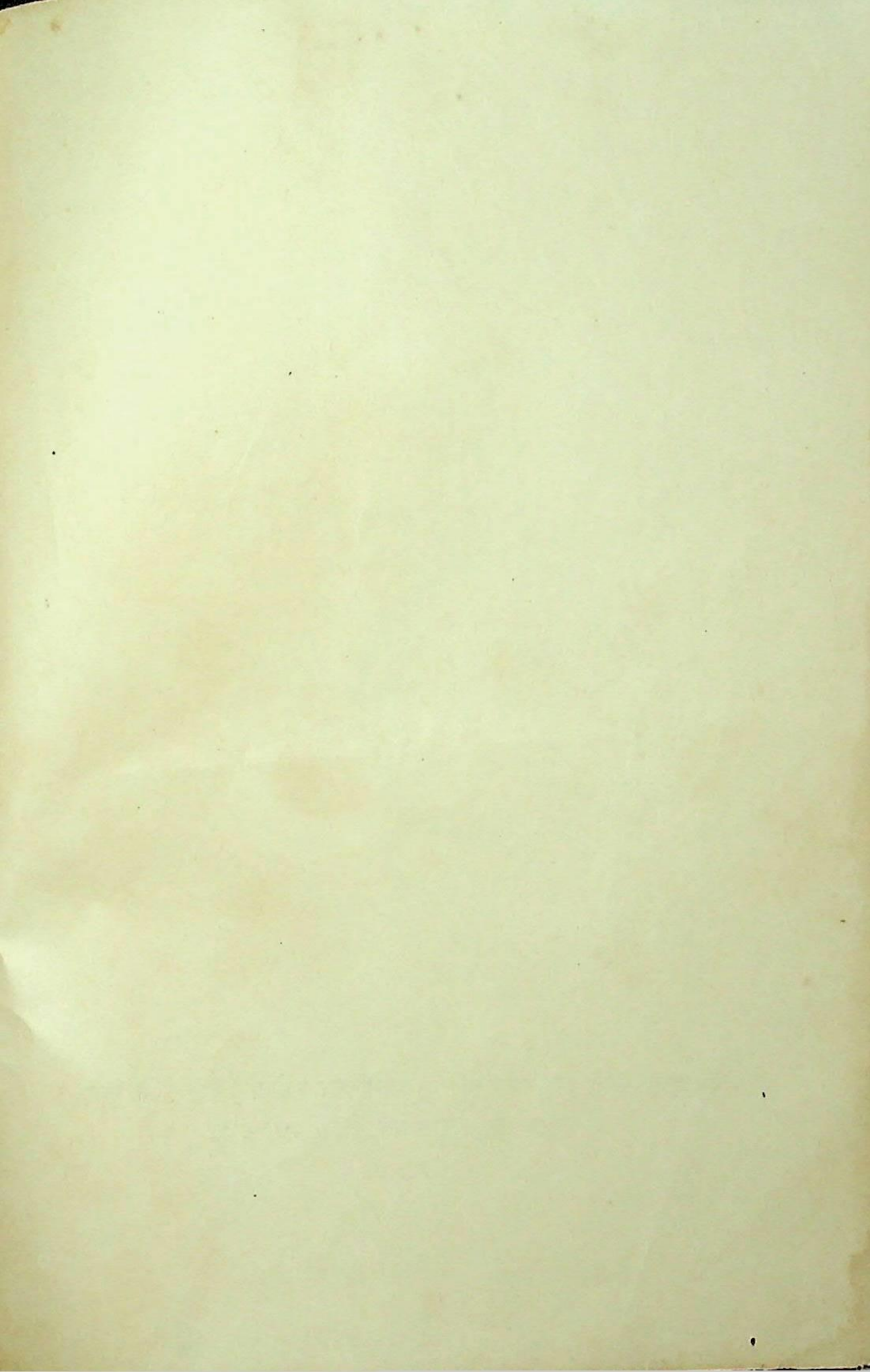
अमेरिकन-राष्ट्र ने, स्वाधीनता की घोषणा के साथ साथ अपने नव-प्रभात के दर्शन किये थे। हम इन सत्यों को आत्म-साक्षी और स्वयंसिद्ध समझते थे और आज भी समझते हैं कि 'सभी मनुष्य एक समान पैदा हुए हैं, उनके स्रष्टा ने उन्हें कुछ हस्तान्तरित न किये जाने योग्य स्वत्व व अधिकार प्रदान किये हैं, इन अधिकारों के अन्तर्गत जीवन-निर्वाह करने के तथा स्वतन्त्रता और सम्पन्नता के लिए प्रयत्न करने के अधिकार भी सम्मिलित हैं। इन अधिकारों की प्राप्ति के निमित्त जनवर्ग शासन-व्यवस्थाओं का निर्माण करता है, जिन्हें न्यायोचित अधिकार और शक्ति शासितों की इच्छा से ही प्राप्त होती है......।"

आज अमेरिका की विदेश नीति 'मनुष्य और राष्ट्रों के सम्बन्ध अन्योन्याश्रित हैं,' इस तथ्य की घोषणा कर रही है। अब हम जानते हैं, जैसा कि आज से ३४ वर्ष पूर्व वुडरो विल्सन ने हमें बताया था कि "स्वेच्छा से या मजबूर होकर हमें संसार के जीवन में भागीदार होना है। सभी राष्ट्रों के हित स्वयं हमारे भी हित हैं; हम शेष संसार के सहयोगी हैं; मानवजाति पर जिस बात का प्रभाव पड़ता है, वह प्रत्यक्षतः हमारा, यूरोप का और सारे एशिया का आपसी मामला है।"

स्वाधीनता और अन्योन्याश्रितता, ये युगल-तथ्य इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि हम क्या हैं, हम क्यों स्वतंत्र हुए हैं और हमें स्वतंत्र क्यों रहना चाहिए।



इस पुस्तिका में इन मुख्य विषयों पर प्रकाश डाला गया है



यूनाइटेड स्टेट्स इन्फर्मेशन सर्विस (अमेरिकन एम्बेसी) दिल्ली के लिए
गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली द्वारा मुद्रित



